

3456

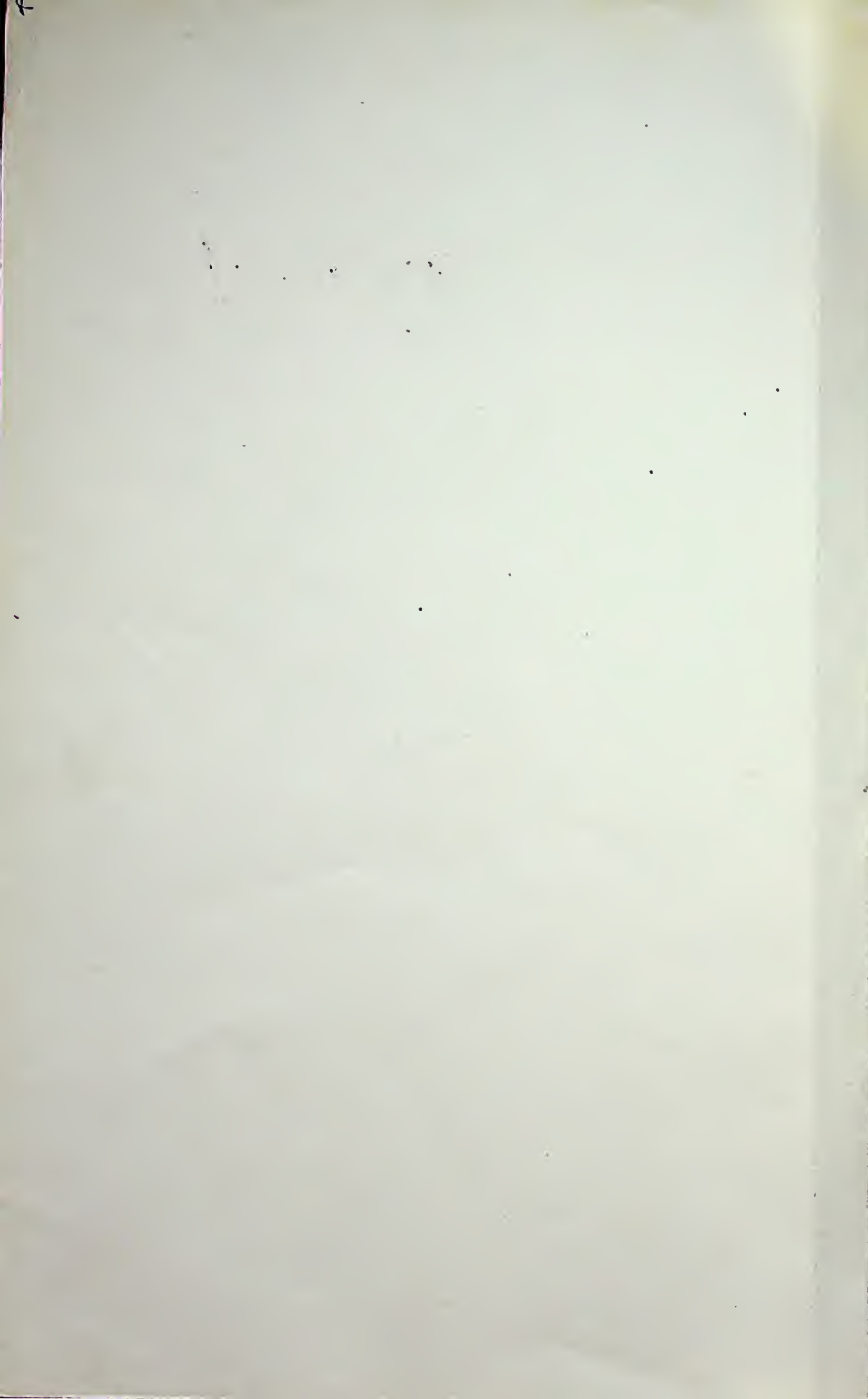
वितरता



सम्पादिका

डॉ. दिलशाद जीलानी

हिन्दी-विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय
श्रीनगर-190006



3456

वितस्ता

--: सम्पादिका :-

डॉ. दिलशाद जीलानी



हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय

श्रीनगर-190006

कश्मीर विश्वविद्यालय की हिन्दी

शोध-पत्रिका

सम्पादिका: डॉ० दिलशाद जीलानी
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

सम्पादक मंडल: प्रो० (डॉ०) एस० एन० कौल
(डॉ०) जौहरा अफ़ज़ल

मूल्य: 200/- रु०

कम्प्यूट्राईजेशन: नसीम, वसीम

मुद्रक : नगीना प्रिंटिंग प्रेस, श्रीनगर
पुलिस स्टेशन कराल खड के सामने,
नई सड़क, श्रीनगर
फोन: 2432530, 2452027

अनुक्रम

दो शब्द	सम्पादिका	i
१ अब्दुल अहद जरगर	प्रो.(डॉ.) भुषण लाल कौल	1
२ कश्मीरी भाषा: शब्दों की स्थिति	प्रो.(डॉ.) सोमनाथ कौल	13
३ काली झाड़ी में बुझे हुए दिए का यथार्थ (रहमान 'साही' की कविता से छाज)	डॉ. रतनलाल शांत	24
४ कश्मीरी नाटक का स्फुर	डॉ. रतन तलाशी	32
५ राष्ट्रीय गीत (कविता)	डॉ.बी. एन. कल्ला	36
६ मौलिक सृजन: अनुवाद और अनुवाद-प्रक्रिया	डॉ. शिवन कृष्ण रैणा	37
७ वर्तमान समाज: मूल्य-संक्रमण	डॉ. दिलशाद जीलानी	44
८ लोकतंत्र और राष्ट्रभाषा	डॉ. मनीषा रानी शर्मा	52
९ महान् संस्कृतिवेत्ता: रवीन्द्रनाथ टैगोर	डॉ. हरमहेन्द्र ^{नित} वेदी	57
१० हिन्दी कथा-साहित्य में महिलाओं का योगदान	डॉ. दिलशाद जीलानी	69
११ नई कहानी में पारिवारिक विघटन	डॉ. मुश्ताक अहमद	75
१२ 'नई कहानी' की भाषा में नवीनता	डॉ. सुखवीर कौर	79

(नोट: प्रस्तुत पत्रिका में प्रकाशित लेखों की सामग्री से सम्पादक मण्डल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।)

दो शब्द

‘वितस्ता’ कश्मीर घाटी में हजारों वर्षों से प्रवाहित होती आ रही है। यह कश्मीर की परम्परागत संस्कृति की प्रतीक तथा साक्षी बनी हुई है। घाटी की परिस्थितियाँ बदलती रही हैं किन्तु ‘वितस्ता’ का प्रवाह कभी रुका नहीं है।

हमारे विभाग की पत्रिका ‘वितस्ता’ का इतिहास लगभग ३५-३६ वर्ष पुराना है। इन वर्षों में इसका निरन्तर विकास तथा विस्तार हुआ। इसने समय-समय पर उच्च-कोटि की साहित्यिक आलोचनात्मक तथा शोधपरक गतिविधियों का परिचय दिया। दुर्भाग्य-वश १९६० तथा इसके पश्चात ‘वितस्ता’ का प्रवाह कुछ समय के लिए अवरुद्ध हुआ, लेकिन पिछले तीन चार वर्षों से यह क्रम फिर से शुरू हुआ है क्योंकि अब नव प्रातः के साथ नयी हवा चलने लगी है। बसन्त के नये फूल अंकुशित हो रहे हैं; आदान-प्रदान के नये रास्ते खुल रहे हैं.....।

इस बदलते परिदृश्य में हमारे विभाग की ‘वितस्ता’ भी नये रंग-रूप तथा नवीन संवेदना को लेकर प्रकाश में आ रही है। आशा है भविष्य में ‘वितस्ता’ निरन्तर प्रवाहित होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होती रहेगी।

‘वितस्ता’ के प्रस्तुत अंक में स्तरीय शोध-परक लेख समाविष्ट किये गये हैं। मैं उन लेखक विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शित करती हूँ जिन्होंने मुझे अपने लेख भेज कर ‘वितस्ता’ के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। आशा है भविष्य में भी उनकी ओर से अपेक्षित सहयोग तथा निर्देश मिलते रहेंगे।

मैं सुधी पाठकों से आशा रखती हूँ कि उन्हें हमारा यह अंक पिछले अंकों की तरह अच्छा ही लगेगा तथा पाठकगण अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा हमारा मार्ग-दर्शन भी करते रहेंगे। हमें आपकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी।

इस पत्रिका को प्रकाशित कराने का श्रेय कश्मीर विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. जलीस अहमद खाँ ‘तरीन’ साहब तथा कुल सचिव प्रो. अब्दुल मजीद मत्तू साहब को जाता है; जिन्होंने हर प्रकार से हमें इस पत्रिका को प्रकाशित करने में सहयोग दिया। इसके लिए हमारा विभाग उनके प्रति आभार प्रदर्शित करता है।

—सम्पादिका

अब्दुल अहद जरगर

(कश्मीरी सूफी कवि)

(सन् १९०६ ई० २१ नवम्बर, १९८३ ई०)

—प्रो० (डा०) भूषण लाल कौल

आधुनिक युगीन कश्मीरी जन मानस में इफान अर्थात् मारिफत की अमृत धारा प्रवाहित करने में सूफी कवि अब्दुल अहद जरगर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अहद जरगर केवल एक सूफी बुजुग ही^{नहीं} थे, अपितु भारतीय दर्शन वेदान्त, सौम्यता एवं सगुण वैष्णव भक्ति से प्रेरित सर्जनात्मक कलाकार भी थे। उन्हें केवल एक सूफी कवि कहना ही पर्याप्त नहीं होगा। ऐसा कह कर हम उन की रचनात्मक प्रतिभा के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। वास्तव में वे एक समन्वयवादी चिन्तक एवं कलाकार थे। जिन्होंने तसव्वुफ (सूफीइज्म) एवं वेदान्त, भक्ति और चिन्तन तथा लौकिक और अलौकिक का अद्भुत समन्वय अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उन के समकालीन भक्त कवि मास्टर जिनद कौल ने शुद्ध भारतीय चिन्तन पर आधारित भक्ति रस (ईश्वर के प्रति उत्कट अनुराग) प्रधान रचनाएँ लिखीं लेकिन अहद जरगर ने एक ओर १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कश्मीरी सूफी कवियों की परम्परा को २० वीं शताब्दी में अपने रचनात्मक कौशल से गौरवान्वित किया तो दूसरी ओर भारतीय चिन्तन-शास्त्र की विभिन्न धाराओं से अमृत कण एकत्र करके जनमानस के तमसान्धकार को मिटाने का प्रयास भी किया है। महान समन्वयकारी साधक एवं कवि के रूप में उन्होंने सच्चिदानन्द धन के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की। तसव्वुफ में भारतीय रंग अथवा भारतीय संस्कृति की यह मनोहर छटा अपने आप में अद्भुत एवं अलौकिक है।

आधुनिक कश्मीरी काव्य में परम्परा से हट कर बहुत कुछ लिखा गया और आज भी लिखा जा रहा है। कई देशी एवं विदेशी काव्य आन्दोलनों चिन्तन पद्धतियों एवं विचार सरणियों ने इस के अन्तर-बाह्य स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित किये। राष्ट्रीय काव्य, क्रान्तिकारी काव्य, प्रगतिवादी काव्य, प्रयोगवादी काव्य, नई कविता, विचार काव्य केवल कवि की समझ तक सीमित रहने वाला काव्य और न जाने कितनी अन्य धाराओं में कश्मीरी काव्य बीसवीं शताब्दी में प्रवाहित हुआ लेकिन देखने योग्य विशेष बात यह है कि परम्परागत मूल्यों की पूर्ण अवहेलना न हो सकी। ये मूल्य आज भी कलाकार को सर्जन की प्रेरणा प्रदान करते हैं। परम्परागत मूल्यों की क्षीण धाराओं का

अस्तित्व कई बार आधुनिकता की भीषण आन्धी उन्हें समूल उखाड़ फेंकने में सफल न हो सकी। श्री अब्दुल अहद ज़रगर वर्तमान युग में उसी भव्य सांस्कृतिक परम्परा के प्रकाशस्तम्भ हैं। अहद ज़रगर ने युगीन काव्य आन्दोलनों से अप्रभावित रह कर अपने साधनामय जीवन की गहूना^१तियों के काव्यवाणी प्रदान की।

अहद ज़रगर का जन्म २० वीं शताब्दी के पहले दशक में नरवरा-श्रीनगर के डांगर पोरा^१ मुहल्ले में हुआ। निश्चित जन्म-तिथि के विषय में पर्याप्त मतभेद है^२। स्वयं ज़रगर साहब अपनी निश्चित जन्म तिथि के बारे में अन्त तक अनुमान ही लगाते रहे। जुलाई सन् १९८१ में एक भेंट वार्ता में उन्होंने अपनी आयु ७० वर्ष जिस के आधार पर उन का जन्म सन् १९१० अथवा १९११ ई० माना जा सकता है^३।

उनके पिता स्वर्गीय गुलाम मुही-उद्दीन पश्मीना बुनकर और एक माहीर रफूगर भी थे।

नाम के साथ 'ज़रगर' शब्द जुड़ा है स्पष्ट है इन के पूर्वज सुनार का काम करते होंगे। २५ वर्ष की अवस्था में इन का प्रथम विवाह हुआ लेकिन

(२) - श्री मोती लाल साकी ने इस मुहल्ले का नाम मकार मुहल्ला लिखा है। देखिये: 'गाशिर'-मोती लाल साकी - पृ० १००
(वास्तव में मकार मुहल्ला डांगर पोरा के बहुत निकट है और दोनों नरवरा-श्रीनगर में स्थित है।)

(२.१)- श्री अमीन कामिल ने यह तिथि अनुमानतः सन् १९१६ या १९१७ मानी है जो सही नहीं है। उनहीं के तर्क को ध्यान में रख कर सही गणना के आधार पर यह तिथि सन् १९०७ होनी चाहिये थी।

देखिये 'सूफी शायिर'- भाग-३- अमीन कामिल जम्मू कश्मीर कल्चरल अकादमी प्रकाशन-सन् १९६५ पृ०-७३

(ii)- प्राफेसर मुही-उ-दीन हाजिनी ने यह तिथि सन् १९०८ मानी है जिस का अनुमोदन श्री गुलाम नबी फिराक ने अपनी रचना 'नाविशिरि सोम्बरन' में किया है। 'काशिर शायिरी'-सम्पादक: श्री मुही-उ-दीन हाजिनी साहित्य अकादमी-प्रकाशन-सन् १९६० ई० - पृ० २०७

(iii)- श्री मोती लाल साकी के अनुसार वे सन् १९०५-०६ में जन्मे हैं।
'गाशिर' - साकी - पृ०-१००

(३) - 'शीराजि' (कश्मीरी)- अहद ज़रगर नवम्बर-जम्मू कश्मीर कलचरल अकादमी के मुख्य पत्रिका- सन् १९८४ ई० 'अहद ज़रगर'- भेटवार्ता-मेहराज-उ-दीन पृ० १३०

(ii)- इसी पत्रिका के एक ओर निबन्ध में। मोती लाल साकी ने लिया है कि ज़रगर साहब ने भेंटवार्ता में अपनी आयु ७२ वर्ष बताई। अतः उन का जन्म सन् १९०६ ई० में हुआ होगा। ऐसा मानना पड़ेगा।

'शीराजि'- अहद ज़रगर नवम्बर-पृ०-४३

(iii)- 'अहवालनामा'- भाग-२ में उनका जन्म सन् १९०५ ई० में माना गया है। लेकिन इस का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

'अहवालनामा'- भाग-१ सम्पादक: चमनलाल चमन, वशीर अखतर- कोश विभाग - कश्मीर विश्वविद्यालय, प्रकाशन-सन् १९७६ ई० - पृ० १६१

पत्नी अधिक समय तक जीवित न रह सकी। तत्पश्चात् उन का द्वितीय विवाह हुआ और अपनी दूसरी पत्नी के साथ अन्त समय तक उन्होंने सुखद गार्हस्थिक जीवन व्यतीत किया। इस पत्नी से उन के पाँच बच्चे उत्तपन्न हुए जिनमें तीन लड़कियाँ और दो लड़के—खुशीद अहमद ज़रगर तथा शाँहनवाज ज़रगर हैं। ज़रगर साहब ने विधिवत किसी मदरसे में शिक्षा ग्रहण नहीं की बल्कि कांदी कदल—श्रीनगर में ही हसन शाह नामी ओखुन (फारसी ओखुन—शिक्षक, उस्ताद) साहब के पास फारसी भाषा पढ़ने जाते थे। यौवन काल में ही वे सूफी बुजुर्गों की सोहबत में उठने बैठने लगे और इश्क-हशीकी के चुम्बकीय आकर्षण में बन्ध गये। यहाँ गुरु अथवा पीर के बिना भ्रम (बहुँच) नहीं। इस पथ पर ज़रगर साहब का दिशानिर्देशन कई पहुँचे हुए बुजुर्गों और सन्तों ने किया जिन में उल्लेखनीय हैं—सर्वश्री अब्दुल कबीर लोन, भीर वाईज़ मौलवी अहमद उल्लाह साहब (अमं सांब), वाज़पोरा श्रीनगर के रसूल भट तथा नरवरा श्रीनगर के माम सांब गनोई। यौवनवस्था में ही ज़रगर साहब ने काव्य—लेखन आरम्भ किया और लगभग ५० वर्ष तक बराबर इस साधना में लीन रहे। उन की रचनाएँ समय समय पर छोटी छोटी पुस्तिकाओं में प्रकाशित होती रही जिन की संख्या २२ है। तत्पश्चात् उन के दो बेटों ने मिलकर अपने पिता की समस्त रचनाओं को 'कुल्लियात' के रूप में प्रकाशित किया जिसमें ज़रगर साहब की दो सौ से अधिक मुक्तक रचनाएँ संगृहीत हैं। इस के अतिरिक्त ज़रगर साहब ने कश्मीर की प्रसिद्ध लोक कथा पर आधारित खण्ड काव्य 'अकनन्दुन' भी लिखा जिस में २२ शाखाओं के अंतर्गत इस करुणरस प्रधान लोक कथा को सोद्देश्य पद्यबद्ध किया गया है। जब तक साधक सांसारिक आकर्षण के मोहपाश से मुक्त नहीं होता अथवा जब तक भौतिक जीवन के क्षणिक सुख—वैभव के प्रति वह अनासक्त न हो तब तक अध्यात्म की उँचाइयों को छूना उस के लिये पूर्णतः असम्भव है। 'अकनन्दुन' प्रसिद्ध लोक कथा के अहद ज़रगर ने अपने गहन आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति के हेतु पद्यबद्ध किया है। इस कथा के द्वारा कवि लोक मानस का परत—दर—परत स्पर्श करता हुआ हकीकत को जानने, पहचानने और उसमें लय होने के लिये विवश करता है। इस कथा प्रधान वरानात्मक खण्ड—काव्य के मूल में भी लौकिक आकर्षण के साथ साथ अलौकिक प्रेम और जीव ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया गया है। सूफी साधना में लौकिक प्रेम का विशेष महत्त्व है क्योंकि अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के हेतु साधन रूप उस का व्यवहार किया जाता है। अहद ज़रगर

लोक की मांसल अनुभूति को ही इस प्रकार सौन्दर्य कणों से अदभुत रूप और आकार प्रदान करते हैं कि उस के भीतर अलौकिक सौन्दर्य पुंज स्वतः दीप्तिमान हो उठता है।

अहद ज़रगर ने 'गुल व सनोवर' शीर्षक से एक मसनवी भी लिखी है जिस को उन के सुपुत्र श्री खुर्शीद अहमद ज़रगर ने कुछ वर्षों ^{पुनः} प्रकाशित कराया है। इस मसनवी का कथा तत्त्व फारसी का जूठन है जिसे ज़रगर साहब ने किसी उर्दू किस्से से अपनाया है। कथा तत्त्व भय उत्पादक तथा आश्चर्य जनक है जब कि राजरानी गुल अपने पति से छलकपट करके कई पराये पुरुष रूपी दरिन्दों के साथ सह-भोग के हेतु उतावली रहती है। रात के अन्धेरे में अपनी काम-पिपासा के शान्त करने के हेतु वह महल से दूर किसी एकान्त स्थल पर एक साथ कई बदसूरत जंगियों (जंगी-फारसी) बहुत ही काले रंग का व्यक्ति के साथ भोग में लिप्त रहती है और तत्पश्चात् पुनः अपने निद्रामग्न पति के शयन-कक्ष में लौट आती है। नारी की भौतिक तृष्णा का यह पहलू न जाने किस असभ्य युग की याद दिलाता है। सांकेतिक रूप में ज़रगर वस्तुतः आधुनिक विसंगतियों एवं भौतिक आकर्षणों में जकड़े हुए मानव जीवन की सड़ाँध पूर्ण विकृतियों का ही पर्दाफाश कर रहे है। श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग इसे द्वितीय कोटि की मसनवी मानते हैं।³

कश्मीर में प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित लेखकों के सम्मान हेतु जम्मू कश्मीर कलचरल अकादमी के तत्त्वावधान में सन् १९६२ ई० में एक विशेष सम्मान-गोष्ठी का आयोजन हुआ। इन लेखकों में अहद ज़रगर का नाम भी था। यद्यपि वे स्वयं। इस में सम्मिलित नहीं हुए तथापि बाद में उन्होंने ने खिल्लत (सम्मानार्थ दिये जाने वाले वस्त्र आदि) को घर पर विधिवत स्वीकार किया⁴ जुलाई सन् १९८१ ई० में पुनः कलचरल अकादमी की ओर से ज़रगर साहब

२- 'यि उर्दू पाठ बनिनी आंस आमिच
अकिस दोन दोस्तन आंस केलम्य द्रामिच
तिमव दोय हुम यि कांशिर पाठ बनतन
दिलन सान्थन मवांफिक बारि अनतन।

'शिराजि-अहद ज़रगर नम्बर' सन्- १९८४ ई०- पृ०-७७

(अनुवाद)- उर्दू में इसे कहा गया था
दो -एक मित्रजनों की प्रबल इच्छा थी
कि लिख दूँ मैं इस को कश्मीरी में
ताकि मन में मुआफिक (अनकूल) बन जाये।

'शिराजि'- (अहद ज़रगर नम्बर) - सन् १९८४ ई०

लेख- 'गुल व सनोवर' - एक परम्परा का अंत - मुहम्मद यूसुफ टेंग-पृ० ७४

'अकादमी ने पहली बार सन् १९६२ ई० में खिल्लत दिये और खिल्लत पाने वालों में अहद ज़रगर भी शामिल थे।.....(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

के घर पर एक विशेष साहित्यिक गोष्ठी (महफिल) का आयोजन किया गया जिस में घाटी के नामवर साहित्यकार सम्मिलित हुए, इन में उल्लेखनीय है।— मीर गुलाम रसूल नाज़की, दीनानाथ नादिम, रहमान राही, मुहम्मद यूसुफ टेंग, अली मुहम्मद लोन, मोतीलाल साकी आदी। इस भेंटवार्ता में जरगर साहब ने इन साहित्यकारों के साथ अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में खुल कर बात की, कई शंकाओं का सामाधान किया तथा साधना—प्रधान काव्य से सम्बन्धित कई साहित्यिक समस्याओं पर बुज़ुर्ग कवि ने अपने विचार व्यक्त किये। यह भेंटवार्ता 'शीराज़ा' (कश्मीरी) के 'अहदजरगर-अंक' (सन् १९८४ ई०) में प्रकाशित हुई और आज एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में सुरक्षित है। साहित्य के शोधार्थी के लिये इस का अपना विशेष महत्व है।

२१ नवम्बर सन् १९८३ के प्रातः काल अहद जरगर का देहान्त हुआ और इस तरह कश्मीरी नई कविता के युग में भक्ति और सूफी काव्य की अमृतधारा प्रवाहित करने वाला माँ सरस्वती का वरद पुत्र सदा के लिये मौन हो गया।

अहद जरगर के काव्य की अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर हम निस्संकोच उन्हें २० वी शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ सूफी कवि कह सकते हैं। न्याम सा'ब (सन् १८०५-१८८० ई०), रहमान डार (मृत्यु-१८७५ ई०), शाहकलन्दर (मृत्यु-१८८० ई०), वहाब खार (१८४२-१९१२ ई०), शाह गम्फूर, शमसफ़कीर (सन् १८४३-१९०१ ई०) एवं वाज़महमूद (मृत्यु-१९१८ ई०) का सच्चा उत्तराधिकारी एक महान सूफी सन्त के रूप में इन्होंने भौतिकजीवन के क्षणिक आकर्षण से अलग हट कर आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के हेतु साधना को ही अपने जीवन का साध्य स्वीकारा है। आजीवन वे इस साधना में लीन रहे। उन की साहित्य सर्जनभी वस्तुतः उसी साधना का प्रतिफलन है। इस साधना पथ पर उन्हें जिन रहस्यमयी स्थितियों से गुज़रना पड़ा और जो नवीन दिव्य अनुभव प्राप्त हुए— शब्दों का परिधान पहना कर अहद जरगर ने अपनी कविताओं के माध्यम से उन्हीं रहस्यमयी अनुभूतियों को मूर्तरूप रूप प्रदान किया। अहद जरगर कागद लेखी बात नहीं कहते आपितु उन का निजी अनुभूत सत्य उन की रचनाओं में मुखर हो उठा है। सूक्ष्म तत्त्व की पहचान ही तो उन के लिये जीवन की मूल्यवान उपलब्धि है। इस पथ पर (पिछले पृ० का शेष):—

इस सिलसिले में जिस समारोह का आयोजन हुआ, उस में यद्यपि अहद जरगर उपस्थित नहीं थे। तथापि उन्होंने बाद में विधिवत् खिलअत को घर पर स्वीकार किया।

'शीराज़ा'— (अहद जरगर नम्बर)— सन् १९८४ ई०

सम्पादकीय पाठ—टिप्पणी — पृ० —२२

रिन्द ही तो गूढ़ रहस्य से परिचित हो जाते हैं। गाफिल दिशा हीन होकर पिछड़ जाते हैं।

जब से सूक्ष्म तत्त्व लगा दीखने मुझको
तब से पोषित काया टूट गई, बिखर गई।
खाम (कच्चा) हुआ पुख्ता (पक्का) जाम पीने से
तब से पोषित काया टूट गई, बिखर गई।
अहद जरगर गूढ़ रहस्य को पहचानो, देखो
रिन्द हुए महरम और पिछड़े गये गाफिल कच्चे
जिन्दा दिलों में वही हैं राँशान
तब से पोषित काया टूट गई, बिखर गई^१।

अहद जरगर के काव्य का प्रमुखकर्षण है — ईश्क। उनकी कई रचनाओं में ईश्क का लौकिक पक्ष अत्यन्त आकर्षक रूप से मुखर हा उठा है। सम्भव है अहद जरगरा भौतिक जीवन में ही प्रेम की महत्ता को सर्वोपिरी मानते हों। साथ ही हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अहद जरगरा एक विरक्त सन्त नहीं अपितु एक व्यावहारिक गृहस्थ थे और परिवारिक आकर्षण में उसी तरह बन्धे हुए थे जैसे एक सामान्य गृहस्थ होता है। सालिक के रूप में वे अद्भुत को पहचानने के हेतु साधना रत रहे और उसी अद्भुत के साथ ईश्क का सम्बन्ध जोड़ कर उन्होंने सूफी परम्परा का अनुसरण किया अतः उन का श्रृंगार काव्य लौकिक होते हुए भी मुलतः अलौकिक है। यह ते ईश्क— हकीकी की क्रीड़ा भूमि है। यहाँ संयोग की अपेक्षा वियोग की दग्ध कर देने वाली स्थितियों का मार्मिक चित्रण हुआ है। यह वियोग किसी सामान्य विरहिणी का करुण क्रन्दन नहीं अपितु साधनारत सूफी आशिक की अपने माशूक के प्रति हृदय विदारक अभिव्यक्ति हैं। यहाँ तड़पे हैं, गहन वेदना की टीस है और सब से बढ़कर है— दग्ध हृदय की अकुलाहट। ऐसे श्रृंगार—वर्णन में — जो लौकिक होते हुए भी अलौकिक हैं, मासल होते हुए भी सूक्ष्म तथा भौतिक होते हुए भी आध्यात्मिक हैं— कवि ने अपनी कल्पना शक्ति के आधार पर असंख्य सौन्दर्य विम्ब प्रस्तुत किये हैं। अहद जरगर की इन श्रृंगारिक

१— 'गाम जा' बिजार आम डेशन लाला
ताम पोछर गाम पनि पनि लोलो
खाम स्पदुस पोख्त जाम चनि लोलो
अहद जरगरि सीर वुछ दर पिनहाँ
रिन्द महरम अन्द रुदि गाफिल त खाम
जिन्द दिल तीछ रोशनि लोलो।
ताम पोछर गाम पनि पनि लो लो।

^१सूफी शाधिर— भाग—३ सम्पादक: महम्मद अमीन कागिल— पृ०—२१६—२१८

रचनाओं में रहस्यमयी स्थितियों के प्रति उत्कट आकर्षण दिखाई देता है। डा० हवीब-उल्लाह हामिदी के विचारानुसार—‘यह कहना सही नहीं है कि श्रृंगार-वर्णन केवल सौन्दर्य की बाह्यानुभूतियों की जानकारी प्रदान करता है। इस के कई रंग हैं और असरार परस्ती (रहस्याकर्षण) में इस का शोख रंग चमक उठता है। अहद जरगर एक सरल हृदयी कवि हैं जो अँगली के एक इशारे से, एक नज़र से अथवा हल्के कटाक्ष से अव्यक्त सत्ता में भी रहस्यमी छाया चित्रों की सृष्टि करते हैं। छायाचित्रों का यह रहस्यम संसार अहद जरगर के लशुकर (अचेतना) की जानकारी प्रदान करता है।^१

इश्क हकीकी में साधक जब अपनी सुधबुध खोकर तथा प्रेमानुराग में पग कर माशूक के अस्तित्व में लय हो जाता है तो दुई का भेदभाव स्वतः समाप्त हो जाता है। ज्ञान की दिव्य ज्योति से अज्ञान के तमसान्धकार का वजूद ही मिट जाता है। वस्तुतः सूफी साधक प्रतिक्रिया अपने आप को पहचानने के लिए सांघनारत दिखाई देता है। अपने आप को पहचानने का अभिप्राय है— सृष्टि के मूल रहस्य से अवगत होना। यही मारिफत का अमृतपान है। तसव्वुफ का अनुयायी (सूफी) अध्यात्मवादी है। उसे मोह-बंधन में बान्धा नहीं जा सकता। यह सत्य है, लेकिन इसके साथ साथ सूफी एक प्रेमी भी है और अपने प्रिय के स्थायी रूप से प्यार के बन्धन में बान्धने की अदभुत क्षमता उस में पाई जाती है। पते की बात तो यह है कि प्रिय-मिलन वास्तव में अपने ही आप के साथ होने वाला वह साक्षात्कार है जो दुई का भेद मिट जाने पर साधक को नसीब होता है।

अहद जरगर नफ़रत करना छोड़ दे
फिर पूरा देख पाओगे अपना रूप
कभी तुम्ही हो और कभी है वह
पते की बात से हो जा वेदार^२।^३

प्रिय विरह में सूफी साधक वेदना विह्वल होकर तथा जीवन जीने की विवशता पर आँसू बहाते हुए निरनतर मिलन हेतु आतुर दिखाई देता है। उसे अपने प्राण-प्रिय पर पूर्ण विश्वास है। विरह ताप में तपकर ही उस का मानस कुन्दन हो जायेगा। उसके भीतर तो इश्क की अग्नि दहक रही है। वजूद

१- जदीद कश्िर शशिरी- डा. हामिदी कश्मीरी-सन् १९८२ ई०-पृ०-७९

२- वेदार-जाग्रत, सचेत

३- ‘हा अहद जरगर दूर कर दीय
पूरि आदी डेशरव पनुन दीयार
गोह छुरव चीज तय गाह छुरव सुई
आकि नोक्ति गछ वेदार।’

आनन्दाधिक्य से आत्म विस्मृति) की कैफियत (दशा, हालत) अथार्त वज्जानी-कैफियत के लिये यह आवश्यक है कि मन निर्मल एवं स्वच्छ हो और दाहक अग्नि के शोले में यही मन का मैल गल कर नष्ट हो जाता है:-

हर रात प्रतीक्षा रत रहती मैं, दूँढ रही हूँ साजन को
मन मचल रहा प्रिय दर्शन को, नर्गिस हो आती पीड़ा मुक्त
भिक्षावृत्ति अपनाई उसके हेतु, नाम सुमरते माटी हो गया जोबान
दहक रही है इश्क की अग्नि, शोले पहुँच इन्द्रियातीत
तलाशे यार मे निकली मन मे दहक रही ज्वाला
कहाँ मैं पहुँचू भूली भटकी भारी बोझा दोते
अहद जरगर किसे कहे जी का दुखड़ा प्रिय के बदले
विरह कथा पर धरते ध्यान, हृदयव्यथा से हो जाता मुक्त ।^१

प्रिय विछोह से साधक तरह तरह से अपने प्रिय को मनाने का जतन करता हुआ दिखाई देता है। तब मान-मनुहार से काम नहीं चलता तो विनीत शब्दों में नम्र-निवेदन को द्वारा प्रिय के रिझाने का प्रयास किया जाता है। साधक के पास तर्क आथवा ज्ञान की प्रवर ज्योति नहीं है, वह तो अपना दिल खो बैठा है। यही कारण है कि वह अपने यार को मनाने की हर कोशिश में अपना सर्वस्व दाँव पर लगा लेता है। निमंत्रण देने के साथ-साथ वह अतिथ्य-सत्कार का पूरा विश्वास दिलाता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं कि कही भेट न होने पर यौवन अकारण मुरझा जायेगा। उस स्थिति में फिर माशूक को भी पछताना पड़ेगा। विरह अग्नि से तप्त आशिक विरहिणी के रूप में प्रिय तक संदेशा भेजने का सिलसिला जारी रखता है। उसे नित प्रयास में ही सन्तोष प्राप्त होता है। उस के विनीत शब्दों में अश्रुओं की आर्द्रता है, हृदय की कोमलता है और यारे जानों से मिलने की विवशता:-

‘मेरे हमदर्द। आदि से लेकर अंत तक अहवाल सुनाऊँगी
आना प्रिय, मैं मिट जाऊँगी, पछतावा होगा तुमको

१- ‘हर शबै छस इन्तिज़ारस बालयारस बनि दिवान
शरसगणह छुग कर ब्य डेशन जर चल्यम यम्हिरजले
यीन गदाई हज म्य तस पत म्यज गयम सुई सुई करान
तोय छय अशिकन क्राय कांचाह वाघम्य सोई रहे शशकले
गारने ब्य यार ट्रायस नारह मंकल छम दजान
लारी कोत आवारि कारनस बार युधगोम कुस तुले
अहद जरगर से जिजिगर हावि कस सनि तस सिवा
थावि गोदवे कन, फिराकन, दरदे दिल सोरुई बले ।

‘काशिर शायिरी- सम्पादक: प्राफेसर हाजिनी-पृ०-२०७

शैय्या बिछाऊँगी ।

पहले ही गिलिटूर^१ में मदिरा भर दूँगी ।

और धीरे धीरे तुझे पिलाऊँगी भरपूर कलश

कलेजा अपना तुझे खिलाने हेतु रखूँगी प्रस्तुत

आना प्रिय, मैं मिट जाऊँगी, पछतावा होगा तुमको

शैय्या बिछाऊँगी ।

पाने की इच्छा ले कर मैं निकली

दाँव पर लगा दिया मेरा जीजान

बाधु-सूत से संदेशा भेजूँ

आना प्रिय, मैं मिट जाऊँगी, पछतावा होगा तुमको

शैय्या बिछाऊँगी ।^२

प्रिय मिलन हेतु व्याकुल अहद जरगर वस्तुतः सब कुछ खोकर कुछ पाने के हेतु चेष्टारत दिखाई देते हैं। संसार और जीवन की आसाता पर खेद व्यक्त करे हुए वह अपनी व्यथा-कथा का अंकन व्यापक चित्रफलक कर करता है। क्षणभंगुर जीवन के हसीन लमहात साधक अपने प्रिय के संग व्यतीत करने के लिये दन्तचिन्त दिखाई देते हैं। रुष्ट होकर वह तीक्ष्ण व्यंग्य का सहारा भी लेता है और प्रिय की निष्ठुरता पर खून के आँसू भी बहाता है उस की एक मात्र इच्छा - प्रिय मिलन - में ही जीवन की सार्थकता निहित है। असहायावस्था में प्रिय के निष्ठुर व्यवहार पर क्षुब्ध होते हुए भी आशिक बार-बार वस्तुस्थिति के साथ समझौता करके अपनी अपार सहनशीलता का परिचय देता है। वस्तुतः उस की स्थिति करुणा जनक है क्योंकि साधूत रह कर धीरे धीरे उसे अपनी पराश्रित अवस्था का बोध विह्वल कर देता है और यही विह्वलता उस की रचनाओं को रहस्यमय तथा आकर्षक बना देती है। प्रिय के हर निर्णय को स्वीकार करते हुए वह उसे बाहु में झुलाने तथा दुलार करने के लिये आतुर दिखाई देते हैं:-

‘बाजीगर है आखिर यह संसार

नहीं टिकाउ रूप और न बालपन

१- गिलिटूर - एक पुष्प का नाम, सांकेतिक अर्थ में अति सुन्दर

२- ‘दरदिल सरपाय अहवाल बावय बलि काल रावय रव्यक अरमान
सरबल वर बिस्तर बशरावस बलिकोल राव रवसक अरमान
सुलि गिलिटूरयन गय बरनावय बिलि बिलि बावय पूर पयमान
दिलि जिगरूक माज आयूत थावय बलिकाल रावस रव्यक अरमान
हावसि द्रायस अग्नि चानि नावे दावस लोगुथम्योन जूजान
वाक्स अथिव्य नग्नि सोजिनावय बलिकाल रावय रव्यक अरमान

‘संगलाव - सम्पादक रहमान राही, शफी शीक - पृ - २०६

अप्सारओं का यौवन भी ढह जाता है
 बाहु में झुलाउ, दुलार करूँ।
 आते समीप, मैं व्यथा— कथा सुनाती
 हाय हाय । असहनीय है वियोग — व्यथा
 दस्तूर नहीं अपमानित करना
 बाहु मे झुलाऊँ, दुलार करूँ।
 अहद जरगर की आँखों से प्रवाहित है रक्त
 प्रेम—कटार के आगे नित सीस नवाता
 कतले दिलबर है मंज़र उसे
 बाहु मे झुलाऊँ, दुलार करूँ।

सूफी काव्य मे 'शून्य' अर्थात् 'कुछ नहीं' का अपना विशेष महत्त्व है। यह 'कुछ नहीं' वास्तव में अमूर्त अथवा निर्गुण निराकार ब्रह्म का प्रतीक है जो सर्वत्रा व्याप्त होते हुए भी सर्वसाधारण की समझ के बाहर है। इस 'कुछ नहीं' की सही पहचान ही तो सूफी— साधना का लक्ष्य है। इस 'कुछ नहीं' की पहचान से तो इबलीस से मुक्ति प्राप्त होती है और 'इसबाते वजूद' (ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण) का एहसास मन मे गहराने लगता है। सूफी कवियों ने इस 'कुछ नहीं' अर्थात् आज्ञात शून्य की व्याख्या अपनी कई रचनाओं में की है और अहद जरगर भी अपनी कविताओं में इस वेरंग के अनेक रंगों को रूप छटा को शब्दों का परिधान पहना कर पस्तुत करता है:-

'कुछ नहीं, तो 'कुछ' के साथ हुआ है धुलमिल
 मैंने 'कुछ नहीं' को देखा अपनी आँखों के सम्मुख
 'कुछ नहीं' ने ही तो मुझे भरमाया
 मैंने 'कुछ नहीं' को देख आपनी आँखों के सम्मुख।
 यदि 'कुछ नहीं' का अस्तित्व नहीं, तो आवाज कहां से आई?
 'कुछ नहीं' को वह देखा इस सज्जित में ने
 'कुछ' खपेट है भरवमल आँठे

२- यि छुसम्सार आखिर वाजीगर न छि रोजाना सूरथनय लंकिचार
 अछिदारयन स्पदान सूरालो खोनि ललवथ करै गुरि गुरो लो
 नखि यिखना सारी हाल बावो हयकि कोताह दूरयर चोन हय हय
 दकिलायुन छुनि दोस्तूरालो खोनि ललवथ करै गुरि गुरालो
 अहद जरगर चश्मी खुन हारान हुसनि तलवारि दम दम सर दारान
 कतल दिलबर तगिस गजूरालो खोनि ललवथ करै गुरि गुरालो

'सगलाय'—सम्पादक: रहमान राही. शफी शोक पृ०-१९६-१००

कुछ नहीं तो हर गेहरे में छिपा रहता है
कुछ बाहर जीता तो है अदृश्य

कुछ आदि - अन्त है अवश्य

मैंने 'कुछ नहीं' को देखा अपनी आँखों के सम्मुख।^१

कनाअत - नफ़स का सूफी साधना में अपना विशेष महत्व है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि मधुमक्खी की प्रकृति और मकड़ी / मकड़ा के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर होता है। लोभी व्यक्ति तो सांसारिक सुख भोग में उलझ कर इहलोक के साथ साथ परलोक भी गँवा देता है लेकिन सूफी साधक मधु-मक्खी के समान पुण रज एकत्रित करके छत्ते के भीतर तो रहता है पर छत्ते के बाहर निकलकर मुक्त आकाश में विचरण की क्षमता से कभी वंचित नहीं होता। विश्व ताप से बाला दग्ध हो उठी है अतः कभी कभी साजन की निष्ठुरता पर आक्रोश भी व्यक्त करती है। उसे आश्चर्य है इस बात का।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि अहद ज़रगर ने अपने वैयक्तिक जीवन के आधार पर जीव और ब्रह्म में परास्परिक सम्बन्ध को जानने और पहचानने की कोशिश की तथा इश्क की विभिन्न मंज़िलों को तय करते हुए आखिरी मुकाम तक पहुँचने के हेतु साधनारत रहे। उन का सम्पूर्ण काव्य वस्तुतः उन की कठोर जीवन -साधना की ही व्यक्त रूप है। अध्यात्म के पथ पर प्राप्त नाना कटु-मधुर अनुभव उन्होंने कहीं स्पष्ट शब्द-चित्रों के द्वारा मूर्त रूप में प्रस्तुत किये हैं और कहीं अस्पष्ट और क्षीण रेखा-चित्रों के माध्यम से सांकेतिक रूप में अंकित किये हैं।

२० वीं शताब्दी के कश्मीरी सूफी काव्य के इतिहास में अहद ज़रगर अन्तिम प्रतिष्ठित सूफी कवि हैं। सम्भव है, इस काव्य प्रवृत्ति का अलौकिक संगीत २२ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पुनः किसी साधक कवि हृदय में झंकृत हो उठे। यह भविष्य के गर्भ में है। बकौल श्री अमीन कामिल 'सूफी शायिरी इस समय अहद ज़रगर पर ही समाप्त होती है। वे इस यात्रा -पथ के अन्तिम दीप यात्री हैं।'^२

उनके काव्य को समझने और जानने के लिये संतुलित विवेक बुद्धि के साथ साथ साधनात्मक जीवन के प्रति लगाव अथवा रूचि का होना

- १- छु केहँ नय करिथ कोरन रल बुछुम केहनयम्य दीदन तल
छु केहँ नय क्या म्य कोरनम छल बुछुम केहनयम्य दीदन तल
छु केहँ नय नति सदा कतिआव छु के नय तति करिथ पारय
छु केहँ नोन नति बलिथ मखगल बुछुम केहँ नय जाहिरो नातिन
छु केहँ नय आंखरो अब्ल बुछुम केहँ नय म्य दीदन तल

'संगलाव' - सम्पादक: रहमान राही, शफी शौक

पृ.-२००

- २- सूफी काव्य - भाग-३, अमीन कामिल - पृ०

आवश्यक है। उनकी कई रचनाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाये जा सकते हैं। क्योंकि आलोचक और भाट का कर्तव्य-कर्म समान नहीं है। अहद ज़रगर अपनी कई रचनाओं के साथ न्याय नहीं कर सके लेकिन अधिकांश रचनाएँ अत्यन्त कलात्मक, विचार गर्भित और बेजोड़ हैं। वे एक विशिष्ट परम्परा से बन्धे और जुड़े हुए समर्पित कवि हैं। काव्य -कर्म उनके लिये साधना है, सत्य की पहचान और और सव से बढ़ कर है- रस सिक्त मानस की अमृत धारा को प्रवाहित करने का शशक्त साधन:-

‘इश्क वज्र के सम्मुख समर्पण करवाया

पीसा चक्की में, छीना में छनवाया

अन्धकार पर पड़ जायेंगी गुमशुदा प्रकाश की किरणें

तब से पोषित काया टूट गई, बिखर गई।^१



१- “अटि अशकिनि वरसर पान घ्योवनस
ग्रटि कोडनस परिनिस छानिनोवनस
गटि गुमशुद अनवार व्यनि लोलो
ताम पौछर गोम वनि वनि लोलो।

“सूफी शायरी”- भाग- ३ पृ० २१७

कश्मीरी भाषा: शब्दों की स्थिति

प्रो० (डॉ०) एस० एन० कौल

भाषा के प्रयोग की आवश्यकता कुछ उसी प्रकार अनुभव की जाती है जिस प्रकार हाथ खोलने या बंद करने, बाजू या टाँग हिलाने की या आँखें झपकने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। ये शारीरिक क्रियाएँ या चेष्टाएँ इतनी सहज तथा स्वाभाविक होती हैं कि इन क्रियाओं तथा चेष्टाओं के बारे में हम सोच-विचार करने की आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं। यही स्थिति भाषा बोलने की भी है। यह बात तब और भी सही तथा सटीक जान पड़ती है, जब हम मातृभाषा के बारे में बात करते हैं। अन्य भाषा की अपेक्षा मातृभाषा की छाप तथा उसका विकास प्रायः पहले होता है तथा यह विकास सहज परिस्थितियों, अनियंत्रित वातावरण तथा अचेतन अवस्था में होता है। कदाचित् इसी लिये हम मातृभाषा के बारे में चिंतन करने की आवश्यकता महसूस नहीं करते हैं। संस्कृत में लिखित यह उक्ति “मातृभाषा भाषाभि”

हमारे कथन की पुष्टि करती है जिसका आशय यह है कि हम मातृभाषा बोलते तो हैं किंतु उसके बारे में चिंतन नहीं करते हैं। ऋग्वेद की एक ऋचा के अनुसार हम भाषा को देखकर (लिखित भाषा) उसको अनदेखा करते हैं। सुनकर (मौखिक भाषा) उसकी अनसुनी करते हैं मगर भाषाविद् के सामने यह उसी प्रकार सामने आती है जिस प्रकार पत्नी पति के सामने निरावृत्त रूप में प्रसतुत होती है।^१

संसार में लगभग तीन हजार भाषाएँ बोली जाती हैं। वंशक्रम या कालक्रम के सर्वसम्मत सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए संसार की इन भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं, वर्गों आदि में बाँटने का आधार यह है कि कई भाषाओं की जननी (स्रोत भाषा) एक ही है। कलांतर में उसी भाषा से उस कुल की अनेक भाषाएँ, उपभाषाएँ बोलियाँ विकसित हुईं। इन भाषाओं की गणना एक ही कुल के अंतर्गत की जाती है। इन्हीं कुलों, में से एक प्रमुख कुल भारोपीय (भारत + यूरोप) कुल है। भारोपीय कुल की भाषाएँ प्रायः संपूर्ण

१- उतत्त्वः पश्यन् न ददश वाचम् ।

उतत्त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ॥

उता त्वस्मै तन्वयिसमे ।

जायेव पत्ये उशती सुवारा ॥

(ऋग्वेद)

यूरोप, अफ़गानिस्तान, ईरान, पाकिस्तान तथा भारत के बहुत बड़े उत्तरी भुभाग (असम, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू-कश्मीर.....) में बोली जाती हैं। स्पष्ट है कि कश्मीरी भाषा का संबंध उस महत्वपूर्ण कुल से है जिसके अंतर्गत अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, यूनानी, लातीनी, संस्कृत..... जैसी प्रतिष्ठित भाषाएँ गिनाई जाती हैं।

कश्मीरी भाषा बोलने वालों की एक बड़ी संख्या को देखते हुए भारतीय संविधान की अष्टम सूची में इसको सम्मिलित किया जाता है। इसका आशय यह हुआ कि अन्य स्वीकृत भाषाओं की तरह इस भाषा को सरकारी संरक्षण प्राप्त है। कश्मीरी अपनी सीमाओं के होते हुए, पुष्ट होती जा रही है। कश्मीर घाटी के अतिरिक्त यह भाषा किश्तवाड़, भद्रवाह, डोडा जैसे क्षेत्रों में भी बोली जाती है। सन् १९६० में कश्मीरी पंडितों के घाटी से महाप्रस्थान के फलस्वरूप यह भाषा अब देश के महानगरों तथा अन्य नगरों में भी बोली जाती है। जम्मू तथा दिल्ली जैसे नगरों में कश्मीरी भाषा यत्र-तत्र बोलने में सुनाई देती है। क्योंकि विस्थापित लोगों की बहुत बड़ी संख्या इन नगरों में ठहरी हुई है।

पिछले कई दशकों में जम्मू-कश्मीर की राजनैतिक, समाजिक-आर्थिक, शैक्षिक परिस्थितियों में कई प्रकार के परिवर्तन अनुभव किए गये। राज्य में राजनैतिक अस्थिरता बनी रही, जिसके फलस्वरूप अनेक कश्मीरी रोज़गार के कारण या अन्य कारणों से धीरे-धीरे घाटी से बाहर बसने लगे, जो घाटी के विभिन्न स्थानों में ही आजीविका तथा व्यापार आदि कारणों से पीढ़ी दर पीढ़ी बस रहे थे, उनमें से भी अच्छी संख्या में श्रीनगर के भीतरी इलाकों से निकलकर इसके समीपवर्ती बाहरी वस्तियों में बसने लगे। पुराने शहर तथा पुरखों के मकानों को छोड़कर नई वस्तियों में प्रस्थान करके व्यक्ति का मनोविज्ञान बदल गया जिसका प्रभाव कश्मीरी भाषा पर भी पड़ा। युवक दंपतियों ने अन कश्मीरी भाषा के स्थान पर अपने बच्चों के साथ हिंदी, उर्दू में भी बात करने पर बल दिया। जहाँ संभव हुआ वहाँ हिन्दी, उर्दू में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करके बेरुक्के टोक किया जाने लगा। बच्चों पर ये भाषाएँ एक तरह से लाद दी गई^१।

१- कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क): माता-पिता के स्थान पर मम्मी -पापा या मम्मी डेडी

(ख): रविवार, सोमवार के स्थान पर संडे (Sunday), मंडे (Monday)

शम अगले पृष्ठ पर

वे यदि मातृभाषा कश्मीरी में बोलना चाहते तो उन्हें डॉट-फटकार सुनना पड़ती या यदि कश्मीरी में बोलना पड़ता था तो बच्चों को अंग्रेजी शब्द बोलने के लिए एक प्रकार से विवश किया जाता था। इस प्रकार बच्चों की यह कश्मीरी एक नए प्रकार की अपक्षित खिचड़ी भाषा बन गई^९। माँ-बाप, दादा-दादी, नाना-नानी की भाषा में तथा बच्चों की भाषा में सामान्य भाषा में स्पष्ट भेदक लक्षण दिखाई देने लगे। उधर परिस्थितियों के दबाव के कारण गाँवों तथा कस्बों में रहने वाले नौकरी पेशा लोग (विशेष कर कश्मीरी पंडित) श्रीनगर के नई बस्तियों में बसने लगे। उन्होंने भी अपने बच्चों के साथ उपरोक्त भाषायी फार्मूला अपनाया तथा यह भाषायी फार्मूला निरंतर जारी है। इस बदलते भाषायी परिदृश्य में वृद्ध पीढ़ी, विशेषकर अशिक्षित वृद्ध पीढ़ी, मिसफिट सी सिद्ध हुई, बल्कि कहीं कहीं उन्हें अपमान के घूँट तक पने पड़े। यहाँ यह कहना असंगत नहीं होगा कि इस प्रकार का यह भाषायी व्यवहार मानसिक तथा बौद्धिक खोखले मन को प्रदर्शित करता है। तथा यह भाषा संस्कृति के प्रति अपमान है। इस प्रकार की भाषायी नपुंसकता के उदाहरण शायद ही अन्य किसी भाषा - भाषी समुदाय में मिलते हों।

भाषा में दो प्रमुख अंश हैं; एक शब्द संपदा तथा दूसरा व्याकरणिक व्यवस्था। इनके ज्ञान से ही हमारा भाषा पर अधिकार हो जाता है। भाषा का अस्तित्व इन दो व्यवस्थाओं के बिना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए हमारे पास शब्द संपदा हो किंतु उन शब्दों को व्याकरणिक व्यवस्था में प्रयोग में लाने की क्षमता न हो, हम बोलते समय धोर संकट में पड़ जाते हैं। ठीक उसी प्रकार किसी भाषा का व्याकरणिक ज्ञान होने पर भी शब्दों के अभाव में हम दुविधा में पड़ सकते हैं।

शब्द और व्याकरण के अंशों को ध्यान में रखते हुए कश्मीरी भाषा की बात करते समय कई महत्वपूर्ण बातें उजागर होती हैं। कश्मीरी भाषा-भाषी बच्चों से कश्मीरी बुलवाते समय अंग्रेजी तथा हिंदी-उर्दू के अवांछित तथा अनावश्यक शब्दों का घुसेड़े देता है। इस प्रकार कश्मीरी

शेष पिछल पृष्ठ का -----

(ग) एक, दो, तीन के स्थान पर वन (One)%, दू (Two) श्री

(घ) सुबह के नाश्ते के लिए ब्रेकफॉस्ट (Breakfast), दोपहर के भोजन के लिए लंच (Lunch) रात के खाने के लिए डिनर (Dinner)

१- कुछ भाषायी उदाहरण इस प्रकार हैं:

(क) अज छे सन्डे। (हि.-आज संडे है।)

(ख) म्योन डेडी छु ऑफिसर। (हि.-मेरे डेडी ऑफिसर हैं।)

(ग) दुवेंटी (Twenty) पुलिस (Police) टेन (Ten) रूपि (Rupees) गयि थर्टी रूपिज (Thirty Rupees)

अधपक्की सी खिचड़ी नुमा भाषा बना दी गई है। इस प्रकार की प्रवृत्ति भाषा की शुद्धता तथा साधुता को प्रभावित करती है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि शब्द-संपदा की दृष्टि से कोई भी भाषा विशुद्ध नहीं होती है। भाषा विशेषकर विकसित भाषा नाना भाषाओं से प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके अपनी शब्दा-संपदा संपन्न बनाती है। इस प्रकार के आगत शब्दा जन भाषा में रच-बस जाते हैं, वे कालांतर में उस भाषा के अपने शब्द हो जाते हैं। अंग्रेजी जैसी प्रतिष्ठित भाषा के पचहत्तर प्रतिशत शब्द आगत बताए जाते हैं; केवल पच्चीस प्रतिशत शब्द ही इसके अपने हैं। अन्य भाषाओं से शब्द इस लिए आत्मसात् किए जाते हैं क्योंकि हमें उन आगत शब्दों की कमी का अनुभव खटकता है। इस दृष्टि से यदि कश्मीरी भाषा अंग्रेजी, हिन्दी तथा दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करें तो उसे बेजा नहीं कहा जा सकता। प्राचीन काल से ही कश्मीरी ने अन्य भाषाओं से शब्द आत्मसात् किए हैं। स्रोत की दृष्टि से कश्मीरी भाषा की शब्दावली को निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं— तत्सम्, तद्भव और देशज।

तत्सम् वे शब्द हैं जो मूलतः संस्कृत के हैं तथा प्रायः ये आज भी उसी रूप में बोले जाते हैं। जिस रूप में ये संस्कृत में बोले जाते हैं। संस्कृत की तरह यह शब्द — संपदा अँग्रेजी, अरबी, फ़ारसी.....जैसी भाषाओं की भी हैं^१।

तद्भव वे शब्द हैं जो मूलतः संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, अँग्रेजी,जैसी भाषाओं के हैं, किन्तु शब्द-इतिहास की लंबी प्रक्रिया से गुजरते हुए

१—उदाहरण—

- (क) संस्कृत..... तन्, मन्, समथ, काल, यश, शाप, माता, पाताल, आकाश, (मत्स्य)
ओम, अंत, संस्कार, यज्ञ, पीडा, धिता आदि।
- (ख) संस्कृत शब्द..... अमर, दय, पोष्ट, शाफ, पनुन, दवरा, जल, ओमकार,
(तद्भव रूपमें) आगुन, रयोश, प्रेम, मांज, गर, भ्रं, पृथ्वी, वगवती,
वगवान, नल, अधुर, वाशा, ओलर, वोय, पांथुर, मेघ,
अँगूर, अंद आदि
- (ग) फ़ारसी-अरबी-तुर्की..... नार, जमिस्तान, जमीन, सजा, अजीव, अचल, सवर,
(तत्सम् - तद्भव दोनों) कोरवान, अजीव, इस्तिनान, मौंफी, कौंफी, अनार, कंरी, कौबू,
कुली, खोतन, खान, चखमख, खगाथ
- (घ) अँग्रेजी (मत्स्य)..... अपोल, इंजीनियर, ऑफिसर, नर्स, टाई, स्टैप, स्वीच, स्कूल,
स्पेशल, बोर्ड, ओवरकोट, पैट, कमिश्नर, कपनी,
आर्डरली, रंगरोट, गिलास आदि
- (च) अँग्रेजी (तद्भव)..... अरदल्य, रंगरोट, अफसर, इंजीनर, पतलोन, कोट, कलंडर,
कमीटी, कपोडर, अजेंट, अजंसी, काग्नन्स गजट, गिलास,
चियरमेन

उनमें नाना विकार आ गए है।

कश्मीर मे देशज वे शब्द माने जा सकते है जो न तत्सम् है, न तद्भव और न ही विदेशी। ये कश्मीरी भाषा के अपने शब्द माने जा सकते है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या कश्मीरी का अपना कोई मूल शब्द है? हम साधारणतः देशज उन शब्दों को मानते है जो भाषा या उसकी बोलियों से इनका विकास होता है। इन शब्दों की व्युत्पत्ति निर्धारित करने में हमें दिक्कदतों का सामना करना पडता है। कदाचित व्युत्पत्ति निर्धारित करने की कठिनाइयों से बचने के लिए हम उन्हें देशज के खाते में तो नहीं डालते है? कही ऐसा तो नहीं है कि देशज कहलाए जाने वाले शब्द ठीक उसी प्रकार तद्भव हैं जिस प्रकार तद्भव शब्दावली को 'तद्भव' की कोटि में शुमार करते है? हमारे कथन की पुष्टि डॉ. भोलानाथ तिवारी के कुशल निर्देशन में डॉ. पूर्णसिंह उबास द्वारा लिखित शोधप्रबंध "हिन्दी में देशज शब्द" से होती है^१। डॉ. उबास का कथन है कि हिन्दी में जिन शब्दों को पहले देशज शब्द माना जाता था उनकी व्युत्पत्ति या स्रोत के बारे में शोध करने से पता चला कि असल में वे संस्कृत भाषा के तद्भव शब्द हैं। डॉ. उबास ने बड़े प्रयत्न करके ऐसे सैंकड़ों शब्दों की व्युत्पत्ति निर्धारित की है, जिन्हें पहले देशज की कोटि में रखा जाता रहा है। जिन शब्दों की व्युत्पत्ति निर्धारित करने मे वे समर्थ नहीं हो पाए है, उन्हें आज्ञात व्युत्पत्तिक की कोटि में रखा गया है। यह कथन कश्मीरी भाषा पर भी लागु हो सकता है क्योंकि कश्मीरी भी हिन्दी जैसी भाषाओं की तरह भारतीय आर्य परिवार की भाषा है। इस कथन में कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि ऐतिहासिक परंपरा के रूप में संस्कृत का उत्ताधिकारी कश्मीरी को भी मिला है। अतः यदि कश्मीरी में कोई अपना शब्द न मिले तो भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से यह असंभव नहीं है। संस्कृत स्रोतीय एक बहुत बड़ी शब्द - संख्या कश्मीरी में पाई जाती है। यह तत्सम् तथा तद्भव दोने रूपों में उपलब्ध है। इस प्रतिष्ठित शब्दावली के अनेक शब्दों को त्याग कर उनके स्थान पर दूसरी भाषाओं (अंग्रेजी.....आदी) ग्रहण करके हम निश्चय ही कश्मीरी भाषा के साथ अन्याय करते हैं। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि कश्मीरी भाषा का शब्द भंडार किसी समय संस्कृत के बाद अरबी से बहुत अधिक व्याप्त था। ग्रेलांतर मे अंग्रजी के वर्चस्व के कारण अंग्रेजी शब्दावली ने इस भाषा में नाभिकीय स्थान ग्रहण किया है।

इस परिप्रेक्ष्य में कश्मीरी भाषा में विशुद्धता का सवाल कहाँ से

१- डॉ. पूर्णसिंह उबास: हिन्दी मे देशराज शब्द., नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली

उठता है? वस्तुतः दूसरी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करना कोई बुरी बात नहीं है, लेकिन इनके प्रयोग में किसी प्रकार की कृत्रिमता या अनावश्यकता का भाव नहीं आना चाहिए। जन भाषा में परंपरागत शब्दावली मौजूद हों, ऐसी स्थिति में दूसरी भाषा या भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है। यह एक प्रकार से भाषा के प्रति ज़्यादाती है तथा कभी-कभी वक्ता की स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। कथन की पुष्टि के लिए ये उदाहरण सिद्ध होंगे:-

परंपरागत कश्मीरी

कश्म० यि छु म्योन गर्।
हिं० यह मेरा घर है।
कश्म० वीरेंदर छु म्यानिस
मामा जी सुंद नेचुन।

हिं० वीरेंद्र मेरे मामा जी का हिं०
बेटा है।

कश्म० सु छु किताब परान
हिं० वह किताब पढ़ रहा है।

अंग्रेजी निष्ठ कश्मीरी

कश्म० यि छु म्योन होम (home)
हिं० यह मेरा होम है।
कश्म० वीरेंदर छु म्यानिस
मेटरनल अक्ल (maternal
uncle) सुंद सन (son)
हिं० वीरेंद्र मेरे मेटरनल अक्ल
का सन है।

कश्म० सु छु बुक (book) परान।
हिं० वह बुक पढ़ रहा है।

इसी प्रकार कश्मीरी नुमा हिन्दी के कुछ हास्यास्पद उदाहरण देखे जासकते हैं:-

हिन्दी:- मैंने बत् म्योड़ खाया।

मुना गास्-गास् चलो, बूठ खराब हो जाएगा।

वह मेरा मास्तुर बोय है।

मैने चामन और सोचल खाई।

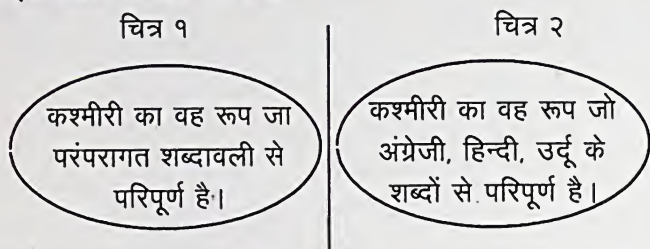
इससे स्पष्ट होता है कि परंपरागत कश्मीरी में बात करने में सहजता तथा आत्मयिता है। हम अंग्रेजी या हिन्दी के शब्दों को प्रयोग में लाकर भी कश्मीरी ही बोल लेते हैं, क्योंकि ये कश्मीरी भाषा की संरचना तानि अनुशासन में ढाले जाते हैं। लेकिन यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कश्मीरी में शब्दों की आपूर्ति के लिए दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करना बुरी बात नहीं है। जिन शब्दों की कमी खटकती है, उन्हें अवश्य ग्रहण किया जाना चाहिए। इससे भाषा रूपी गंगा में और अधिक गहराई, विकास तथा विस्तार हो सकता है। विस्थापन में कश्मीरी भाषियों ने कश्मीरी के कई ठेठ शब्दों को त्यागकर उनके स्थान पर अंग्रेजी, हिन्दी के शब्दों को ग्रहण किया तथा यह प्रक्रिया

जारी है। यह प्रवृत्ति यदि एक ओर सही है किंतु दूसरी ओर यदि भाषा रूपी भवन के दरवाजे खुले छोड़ दिये जाएँ तो तूफान और झंझवात आने पर भवन क्षतिग्रस्त हो सकता है। अतः समय तथा परिस्थितियों की कभी – कभी माँग होती है कि भवन के दरवाजे – खिड़कियाँ बंद कर दिये जायें। जिस गति से कश्मीरी की परम्परागत शब्दावील उपेक्षित हो रही है, लेकिन है कि यह संपदा बहुत हद तक खाली हो जाएगी। संभव है कश्मीरी भाषा पर आधारित हमें निघंटुओं^१ का निर्माण करना पड़े। कश्मीरी भाषा के शब्द –चयन मुहावरों, लोकोक्तियों को जीवित रखने के लिए निघंटुओं का निर्माण अवश्य किया जान चाहिये। प्रत्येक जाती के पीछे हँसती-इठलाती तथा मौज करती संस्कृति होती है। हमारा खान-परन, पर्व, उत्सव, वेश-भूषा, धर्म, विश्वास, भाषा..... हमारी संस्कृति के अंग हैं। प्रत्येक जाती इन पर गर्व करती है। इनके लुप्त हो जाने से व्यक्ति तथा जाति की पहचान तथा उनका अस्तित्व लुप्त हो सकता है। मातृभाषा का अस्तित्व किसी भी संस्कृति की पहचान को बनाये रखने के लिये अपरिहार्य है। मातृभाषा हमारे सुख- दुख की संगिनी है। यह नहीं रही तो हम कहाँ रहे? यह माँ का दिया हुआ अमर वरदान है। माँ –(बाप) जीवन भर हमारा साथ नहीं देते किंतु माँ का दिया भाषा रूपी वरदान आजीवन हमारा साथ देता है। किसी भी संस्कृति (मातृभाषा) की सीमाएँ तथा दुर्बलताएँ हो सकती हैं किन्तु उससे मातृभाषा का गौरव कम नहीं हो सकता बल्कि सोच-विचार करके उन दुर्बलताओं को दूर किया जा सकता है। मातृभाषा का वरदान खोकर हम जीवन की पटरी से उखड़ जाते हैं। इसके अभाव में हम निर्वासित तथा दिग्भ्रमित हो जाते हैं। भाषा_२ या भाषा_३ की अपेक्षा मातृभाषा में बातचीत करके ही आत्मीयता का अनुभव किया जा सकता है।

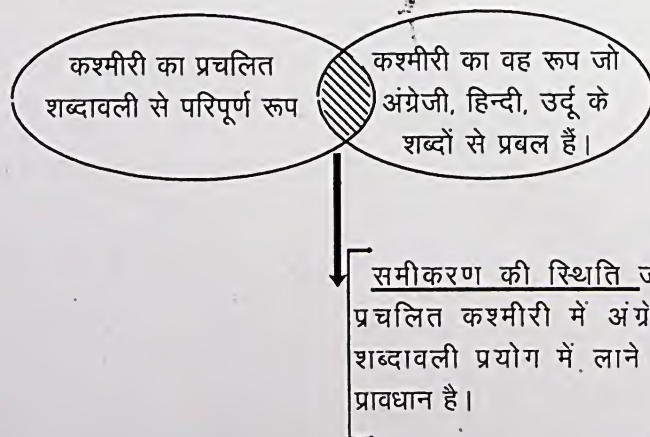
०— भाषा का प्रवाह बहते नीर के समान है। इसमें समय तथा स्थान के आधार पर परिवर्तन के लक्षण दिखाई देते हैं। अपनी पराकाष्ठा के बाद जब वैदिक भाषा बदल गई तो उसके बहुत से शब्द प्रयोग से छूटने लगे। तथा उस काल के विद्वानों को इस बात की चिंता होने लगी कि प्रयोग से जा शब्द छूट गए, उन शब्दों के अर्थ भावी पीढ़ियों के लिए समस्या बन जाएँगे तथा उनके लिए वेदों का अर्थ दुर्बाध हो जाएगा। वेदों (पुकारांतर से वैदिक भाषा) के महत्व को समझते हुए भाषाविदों ने उन वैदिक शब्दों पर आधारित कोशों का निर्माण किया जो कालांतर में प्रयोग से छूट गए थे। ये कोश भावी पीढ़ियों के लिए तैयार किए गए ताकि उन्हें वेदों (वैदिक भाषा) को समझने में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। कोश की इस परम्परा को निघंटु (नि+ / गम् / +तु या नि+ / मन् / +तु या नि+ / ह् / + तु) कहते हैं। विश्वास किया जाता है कि इस परम्परा में अठारह निघंटुओं का निर्माण किया जाता था किंतु अभी तक एक ही निघंटु प्राप्त हुआ है। इस कोश का नाम निरुक्त है। तथा इसके रचयिता महर्षि यासक हैं।

विस्थापन के बाद मातृभाषा ही हमारे पास एक बहुत बड़ा संबल है। मातृभाषा माध्यम है.....अभिव्यक्ति का, एक जुट होने का, दुख-दर्द बाँटने का सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने का। अंग्रेजी पढ़ने लिखने के लिए दुनिया भर में विद्यालय, महा विद्यालय तथा विश्वविद्यालय हैं।..... किन्तु मातृभाषा कश्मीरी हमसे छूट गई तो इसको कहाँ से प्राप्त करेंगे?

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यबंध स्तर पर कश्मीरी के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं..... एक, वह रूप जिसमें, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी आदी भाषाओं के शब्द मिलते हैं। दूसरा, वह जहाँ परंपरागत शब्दावली को त्याग कर अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू का वर्चस्व है। रेखाचित्र के द्वारा स्थिति को इस प्रकार समझा सकते हैं:-



वस्तुतः समय की मांग है कि प्रयोग के स्तर पर उपरोक्त दो रूपों का समीकरण किया जाए। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिव्यक्ति के स्तर पर अंग्रेजी आदि भाषाओं के उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाए जिन शब्दों की कमी हमें खटकती है। समीकरण की स्थिति को निम्न रेखा चित्र से समझा जा सकता है:-



इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हमें दूसरी भाषाओं के आगत शब्दों को बेखटके अपनाना चाहिए, मगर उन्हें जोर जबरदस्ती से कश्मीरी पर लादना भाषा तथा वक्ता की सहजता को क्षतिग्रस्त करना है। परिणाम स्वरूप हमारी तरुण पीढ़ी दिनों के नामों या गिनती वाले शब्दों से अनभिज्ञ होने के कारण चंद्रवार (सोमवार), बोमवार (मंगलवार) के स्थान पर मंडे (Monday), टयुस्डे (Tuesday), कहने के लिए लाचार हैं।..... गिनती वाले शब्दों अख (एक), जह (दो), त्रेह (तीन) के लिए वन (one), ट (two), थी (three), कहना उनकी विवशता है। रिश्ते-नाते के वे नाम जो आदरपूर्वक लिए जाते थे, अब उनमें सस्तापन आ गया है। देदी के लिए नानी या दादी जैसे शब्दों का खुलकार प्रयोग हमारी परम्परा के अनुकूल नहीं हैं। टाठया जी, लाला जी, काकनी, गोंबुर, टाटी..... जैसे संबोधन वाले शब्द क्या त्यागे जा सकते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या विस्थापन की त्रासदी इस बदलती भाषायी मानसिकता के लिए उत्तरादायी है? वस्तुतः इस मानसिकता के बीज घाटी में ही अंकुरित हो चुके थे किंतु उसका क्षेत्र सीमित था। प्रमुख रूप से श्रीनगर तथा, अन्य उपनगरों में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवारों में यह प्रवृत्ति पहले ही देखी जा सकती थी। विस्थापन में यह प्रवृत्ति दावाग्नि की तरह फैल गई तथा यह प्रक्रिया जारी है। यदि इस प्रवृत्ति पर अंकुश नहीं लगाया गया तो संभव है कि निकट भविष्य में पर्व-उत्सवों में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली, सामाजिक - धार्मिक अनुष्ठान की शब्दावली आदी हम से छूट जाए। कहना होगा कि सांस्कृतिक दीवालियापन किसी भी जाति का बहुत बड़ा अभिशाप है।

विस्थापन के बाद विभिन्न क्षेत्रों के कश्मीरी भाषा-भाषी एक-दूसरे के निकटतम तथा द्रुत सम्पर्क में आए। पारस्परिक आदान-प्रदान तथा सहयोग करने से ये भाषा-भाषी शब्दगत, उच्चारणगत, अनुतानगत तथा अन्य स्तरों पर एक दूसरे को प्रभावित किए बिना नहीं छोड़ सकते हैं। श्रीनगर की कश्मीरी, अन्तनाग या बारामूला की कश्मीरी से विभिन्न स्तरों पर किसी न किसी रूप में प्रभावित हो सकती है। इसी प्रकार श्रीनगर की कश्मीरी देहातों में बोली जाने वाली कश्मीरी को प्रभावित कर रही है। संक्रमण की वर्तमान स्थिति में प्रभाव के ये लक्षण अभी मुखरित नहीं हैं। हमारा विश्वास है भविष्य में परिवर्तन के ये लक्षण और स्पष्ट होंगे।

इस विवेचन से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कश्मीरी भाषा पर, विशेष रूप से विस्थापन की कश्मीरी भाषा पर,

गवेषणात्मक लेख लिखाने तथा राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण सेमिनारों का आयोजन करवाने की आवश्यकता है ताकि विषय से संबंधित सार्थक निष्कर्षों की सृष्टि हो सके। आजकल नियोजन शब्द बहुत साधारण हो गया है। कश्मीरी भाषा का विभिन्न दिशाओं में भाषा नियोजन करना बहुत ही अनिवार्य है। उदाहरणार्थ कश्मीरी भाषा के वर्ण-विन्यास पर विचार करने की तुरंत आवश्यकता है। ताकि इसके ध्वनिभेदक चिह्नों में एक रूपता तथा वैज्ञानिकता लाई जा सके। कश्मीरी भाषा के संदर्भ में यह समय की बहुत बड़ी माँग है। इन्हीं प्रयासों से यह कंप्यूटर के योग्य भाषा बन सकती है।



लेख में प्रयुक्त परिभाषिक शब्द

हिन्दी	अंग्रेजी
अज्ञात व्युत्पत्तिक	Unknown etymological
अनुतान	Intonation
आगत शब्द	loaned word
घ्वनि भेद चिह्न	diacritical mark
नाभिकीय स्थान	nuclear position
भारोपीय परिवार	Indo-European family
भाषा-नियोजन	language planning
मौखिक भाषा	verbal/spoken language
वर्ष-विन्यास	orthography
वाक्यबंध स्तर	discourse level
व्युत्पत्ति	Etymology
शब्दगत	lexical
स्रोत भाषा	source language



काली झड़ी में बुझे दिए का यथार्थ

(रहमान "राही" की कविता की खोज)

डॉ० रतन लाल शांत

"स्याह बारिशों की झड़ी में संकलित एक मार्मिक गजल का एक शेर है: बुझे दिए हैं हाथों के, मर गए कबूतर बातों के/धारासार स्याह बारिश में, गोसाईं रे, कहाँ चला। कवि ने इस शेर की दूसरी पंक्ति "से अपने सातवें काव्य-ग्रंथ का शीर्षक ले कर जैसे अपने मंतव्य और अपनी रचना दिशा दोनों की पहचान कराई है। समय की आक्रमक मुद्रा के सामने कवि परत नहीं पर प्रश्नों से धिरा ज़रूर है, और या प्रश्न रूपकों की झड़ी लगा देते हैं। रूपकों के पीछे केन्द्रीय बिम्ब है गोसाईं का। गोसाईं शब्द के भारतीय भाषिक-सांस्कृतिक संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। कश्मीरी संस्कृति तथा परंपरा में गोसाईं एक निर्लिप्त साधक है ही, पर बेचैन, खोजी और सचेत रचनाकार भी है। कश्मीरी लोकवार्ता में उस का व्यक्तित्व स्पष्ट रेखांकन के साथ उभरता है। कवि, कथाकार, दास्तानगो उसे अनायास अपने (स्वयं के) बेचैन रचना-धर्मी मानस का पर्याय मान कर चलते हैं। कवि "राही" विशिष्ट कश्मीरी इतिहास और परंपरा से अपने लिए जीवन-उर्जा लेता है पर वह समकालीन सार्थकता और निरर्थकता दोनों से दो-चार होने की स्वीकृति भी करता है। उस के कवि व्यक्तित्व के विकास का ग्राफ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वह इतिहास और सामयिकता, दोनों की युगपत उपस्थिति का साक्षी है। इस तथ्य का सब से अधिक प्रामाणिक दस्तावेज़ है उस का कविता संकलन *स्याह बारिशों की झड़ी में*। १९६७ में प्रकाशित यह कवि का ताज़ा काव्य-ग्रंथ है और एक सक्षम कवि की तीक्ष्ण तथा प्रभावी अभिव्यक्ति की तरह अब चर्चा का विषय बना हुआ है। न केवल चर्चा का बल्कि प्रेरणा तथा दिशा-दशा-दर्शन का एक मार्गस्तंभ भी बना हुआ है यह ग्रंथ।

ऐसा कई अद्भुत सत्यों के बावजूद हो रहा है। सब से अद्भुत और महत्त्वपूर्ण यह है कि इस ग्रंथ में कवि की १९५६-५८ से ले कर प्रकाशन वर्ष तक की कविताओं में से चुनी हुई कविताएँ संकलित हैं। इन में से तकरीबन सारी समय-समय पर प्रकाशित हुई और कश्मीरी कविता में नए स्वर तथा बदले हुए लहजे का पता देती रही हैं, विगत चार दशकों में। फिर भी आज जब संकलित हो कर एक साथ प्रस्तुत हुई हैं तो इन पर विचार और

पुर्नविचार हो रहा है। यह भी अजीब है कि इस ग्रंथ में यद्यपि राही की नज़्मे, ग़ज़लें तथा चतुष्पदियाँ हैं और इन सब विधाओं में राही की अलग पहचान स्थापित हो गई है, फिर भी संपूर्ण संकलन का प्रतिनिधि स्वर ^{नज़्म} अर्थात् मुक्त छंद ^{छंद} अथवा छंदमुक्त कविता का है, और राही इस प्रकाशन के बाद कश्मीरी नज़्म के कवि के ही रूप में उभरते हैं। कारण शायद यह है कि समकालीन भावबोध के सर्वाधिक समर्थ वाहन के रूप में छंद का बंध कविता के लिए अनावश्यक उपकरण हो कर रह जाता है। बल्कि इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि कश्मीरी में (उर्दू की ही तरह, उर्दू के प्रभावानुरूप) छंद-मुक्तता सत्तर के दशक में तकरीबन अप्राकृतिक विकास की तरह जाहिर हुई। ग़ज़ल की जकड़ से कविता को मुक्त करना सचमुच समकालीन भाव-बोध-संपन्न विचारशील कवियों के लिए ज़रूरत का काम था। कश्मीरी कविता के क्षेत्र में यह "राही" ने ही किया। यह बताने के लिए ग़ज़ल ही सही मगर ग़ज़लत्व की मानसिकता से मुक्त ग़ज़ल ही समकाल का अनिश्चय तथा प्रतिसौन्दर्यवाद बयान कर सकती है, "राही" ने "न्यू ल ग़ज़ल" (कच्ची ग़ज़ल) लिखी जो संरचना में ही नहीं, वस्तु-बोध में भी ग़ज़ल से कोसों दूर है। अस्तु।

"राही" स्वयं प्राक्कथन में कहते हैं कि प्रस्तुत संग्रह की कोई नज़्म "शुद्ध गद्यात्मक" नहीं है, यद्यपि पारंपरिक छंदशास्त्र से हट कर रचनाएँ इस में हैं। वेशक तथाकथित गद्य कविता कोई है पर गद्य की लय सर्वत्र मौजूद है, जो इन कविताओं को परंपरावादी आलोचकों- पाठकों के लिए सुगम ग्राह्य तथा स्वीकार्य नहीं भी बनाती है। तथा राही को शुद्ध कवि दृष्टि तथा तीक्ष्ण यथार्थभेदी नज़र को सब मानते हैं।

यहाँ विषय की दृष्टि से कई प्रकार की कविताएँ हैं। "माफ़ीनामा" जैसे तेज़तर्रार व्यंग्य की कविताएँ भी हैं, "आग की लपट तथा नृत्य" जैसी यथार्थ के भीतर विरोधाभास के उभारने वाली कविताएँ भी हैं, "हंद-फूल का फानुस" जैसी प्रतीकात्मक कविताएँ भी हैं, तथा "ज़बरबन के पर्वत श्रृंग रे!" जैसे निजी संदर्भों का आईना पेश करती कविताएँ भी हैं। कविताओं के साथ-साथ रचनाकाल दिया हुआ है, जिस से कवि की रचना यात्रा और चिन्तन के विकासक्रम का अनुमान किया जा सकता है। पर यह संकलन तरह-तरह की इकाइयों का संग्रह होने के बदले, कवि के बारे में एक समेकित मूल्यांकन-दृष्टि पैदा करने में सफल होता है जो वस्तुतः राही के कवि-व्यक्तित्व के बारे में एक समेकित मूल्यांकन-दृष्टि पैदा करने में सफल होता है जो वस्तुतः राही के कवि-व्यक्तित्व के बारे में पाठक-आलोचक के

लिए ज़रूरी है।

राही के संपूर्ण तथा समेकित व्यक्तित्व का जो रूप उन की इन प्रतिनिधि कविताओं में है, वह है एक ज़बरदस्त संवेदनशील रचनाकार का, जो न केवल अनुभूति की मामूली फेरबदली में भी अर्थ तथा आशय की संभव-असंभव तब्दीलियाँ देखता है, बल्कि शब्द के ज़रा से मात्र फेर में अभिव्यक्ति की पूर्णता की संभावना देखता है। उदाहरणतः उन की नवें दशक की बहुचर्चित परंतु कम व्याख्यायित कविता "ज़बरन के पर्वत श्रृंग रे।" लो। श्रीनगर में डलझील के किनारे खड़ा उँचा वनहीन "ज़बरन" का पहाड़ यहाँ की धार्मिक सांस्कृतिक लौकिक ऊहापोह का शक्तियों से साक्षी रहा है। वह श्रीनगर का उदयाचल है और कवि की सनातन रचनाशीलता का सब से ज़्यादा सहानुभूतिपूर्ण भागीदार। उस से जब कवि अपनी यह भावना सांझी करता है:

तू मेरा आदि सहजात
मैं-अतःस्थल में तेर ही स्नेह
उम्रों तेरे लिए प्रतीक्षा मैं ने की
मेरी व्याकुल धुक् धुक् तू ने सुनी कभी
हाँ, मैं ने कई बार तेरी भारी भारी "हुम-हुम" सुनी, पर
अब जो तुझे कभी इतन अवकाश दिया जाएगा तो
(मेरी पगडंडी कहीं कभी क्या ढूँढ पाओगे?)
मैं बस तेरा इंतज़ार करूँगा.....

तो इतिहास का अचल द्रष्टा और सीमित अवधि का भोक्ता, दोनों एक हो जाते हैं। पर्वत और मनुष्य का यह संबंध प्रकृतिवादी या सौन्दर्य-खोजी कवियों का रागात्मक संबंध नहीं। इस में राग के बदले विराग, उदासीनता और रोज़मर्रा के दंश की पीड़ा बोल रही है। यहाँ राजमर्रा का दंश सनातनता के मरहम की कामना भर कर सकता है, उस में अपने आप को खो नहीं देता।

सहानुभूति के साथ मानव नियति के विरोधभास के जीने वाले कवि के लिए अस्तित्व भले ही दंश के रूप में हो, पर अस्तित्ववादियों के अतिवाद से वह बचने को भी प्रयत्नशील रहता है। "हम्द" (धन्यवाद प्रभु) में मरुरथल की निर्जल तुणहीन रेत में लुढ़क-धिसट कर सरकते हुए गिरगिट का रूपक कवि की अभिवृत्ति सम्यक दर्शाता है। गिरगिट को होना अनहोना परखना पड़ा उस ने अपना दिशा-देश नज़रों में भर लिया अपने मुख पर उभरे

पसीने की नमी का अनुमान लगाया / अपनी जीभ का प्यासा काँटा थोड़ा भिगोया / और अपनी दाढ़ों से खुद अपनी केंचुल खींच उतारी / आहार किया..... / धन्य हो, इस अनस्तित्व में भी अस्तित्व कहीं मौजूद है / किसी को कमी कोई नहीं खलती।

क्षुधातृप्ति के लिए अपनी ही केंचुल को आहार बना कर खाने वाले जंतु का रूपक ले कर कवि ने जो कहना चाहा है उस में आलोचकों को अस्तित्वादी दर्शन की गुँज सुनाई दी। "राही" इस दर्शन से प्रभावित जरूर थे पर जीवन को किसी भी प्रकार में मतवाद के कठघरे में बांधना उन का आशय कभी नहीं रहा। अपने नित संक्रमणशील चिन्तन के कारण वे मार्क्सवादी दर्शन से अलग पंथ धारण कर गए, शुद्ध धार्मिक प्रेरणाओं के अतिवादी वातावरण में (विशेष कर गत दशक में) अपनी स्वतंत्र सोच को बचा सके, तथा औरों के लिए प्रेरणा भी बन सके। यह सोच अपने भुक्तभोगी अनुभव की प्रामाणिकता को ही प्रश्रय देती है। अपने अनुभव की विलक्षणता से बढ़कर राही के पास और कोई मापदंड नहीं है जिस से ज़िन्दगी के बारे में कुछ कह सकें। इस संदर्भ में उन की कविता "अवसाद" ("हमसूस") ली जा सकती है। यह कविता कवि के रचनाशील मानस के भीतर संघर्षमय विकास का परिचय देती है। मन संघर्ष के तमाम आयामों से गुज़रने के बाद गीता के "निष्काम अंत" की किस्म की परिणति से ज़रा भी विचलित नहीं होता, और अपने ऐतिहासिक दाय के सामने खुद को हास्यास्पद स्थिति में पाने के बावजूद लोकगीत की जैसी एक पंक्ति गुनगुना कर रह जाता है। वह न स्थिति के उद्धार के लिए कोई वाचाल स्वर उचारता है, न स्थिति में ही समो जाने के लिए आत्महत्या की मुद्रा इख्तियार करता है। कवि इस कविता में कश्मीरी-उर्दू-फारसी की सारी प्राप्त और आप्त काव्य-परंपराओं की रोशनी में आईना गढ़ने की प्रक्रिया को देखता और बयान करता है। फौलाद को अनुभव-सिद्ध मानव तथा मशीनी प्रक्रियाओं से गुज़ार कर मनुष्य के लिए आईना बनाया गया (मध्य एशिया में फौलाद के पट को धिस-धिस कर आईना बनाने की परंपरा थी), परंतु-

मेरा आदि (आदि नियति का) वादाम (का फूल) खिला /

मैंने (अपने लिए) सुख और संतोष की मुद्रा का वरण किया

अब (यह सोचा कि) अपने हाथों अपनी बेपत्ता जन्म-जाति का मोल कर लूँ
पर हाथ यह माथजला नसीबा (मेरा) -

मेरी धुँधली उसाँस उस को लगी
 कि उस (फौलाद के आईना का) अंदरूनी जंग उभर आया।
 (अब) उधर वह अपनी ठंडी खाली गोदी लिए (मेरे सामने)
 (और इधर) मेरी आँखें अस्त-ज्योति वाले (दो) खड्ड
 हांय रे सिकंदर। हाय खिज रे।

आओ गाओ रे। शौक, हाय (कितना था!) दीदार का।

सिकंदर, जो विश्वविजयी था; खिज़, सिसे अमरत्व प्राप्त था— संघर्ष के इस विफलत्व के सामने हारयास्पद हो जाते हैं और कवि आखिर "शौके-दीदार" का रोना रो कर रह जाता है। नितांत वैयक्तिक अनुभूति को सर्वस्थिति-उपयुक्त बनाने के लिए कवि अपनी कविताओं में बार-बार समय का उल्लंघन करता है और एक साथ भूत भविष्य वर्तमान में उपस्थित दिखता है।

स्याह बारिशों की झड़ी में कवि "राही" का एक कविता-संकलन मात्र नहीं है। जिस में उन की छिटपुट कविताएँ संकलित हों। यह पिछले चार दशकों में इस अप्रतिम कवि व्यक्तित्व के विकास का एक ग्राफ भी पेश करता है, यद्यपि, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कवि का व्यक्तित्व इस लंबी कालावधि में समेकित स्वरूप धारण किए हुए है। देखा जाये तो प्रगतिशीलता से छूट कर राही एक ही लय में रागानुराग प्रकट करता है। इस दौरान उन में आरोह-अवरोह (या सरल भाषा में कहें, मोड़) आए हैं पर उन की दिशा स्पष्ट और परिभाषित रही है। प्रगतिवाद ने उन्हें सामाजिक दृष्टि दी। यद्यपि बाद में वे आत्मनिष्ठ होते गए पर सामाजिक अनर्गलता से वे समय-समय पर चौंकते रहे हैं। छठे दशक में जब कश्मीर की राजनीति में चापलूसी का काफी बोलवाला था, तो राही की कविता "माफीनामा" ने जन्म लिया, जो उन के व्यंग्यकार व्यक्तित्व का रूप प्रस्तुत करती है:

तुम ने जब चाहा तो चार घोड़ों को न्यायाधीश बना डाला/
 जिस ने बखानी योग्यता अपनी, उस के दाँत तोड़ डाले/
 यह तेरा ही है हुक्म कि पुलिस के अफसर चरस ढोएँ/
 करते रहें मौलवी जुआखानों का उद्घाटन..... मैं किस
 गिनती में था कि खुद को योग्य लोगों में गिन लूँ..... /
 तुम कहो तो खिड़कियाँ कील ठोक के मुद्रित कर लूँगा/
 वसंती हवा को बोलूँ री तू कलंकित है / तू आज्ञा दे तो
 "गुलरेज" (महाकाव्य) जला देंगे हम / गुलेलाला (फूल) से

कहेंगे "महजूर" (कवि) बावरा था / (कवि) "आज़ाद" व्यर्थ
 कुढ़ता था / अमीरी गरीबी तो आखिर खुदा की रची हुई
 है।..... / मुझ से कोई मूर्खता हो तो / अपना प्रशंसक
 जान के मेरी ख़ता माफ़ करना.....

यह लंबी कविता जिस सामाजिक असमता और कुप्रबंध को संकेतित करती है, उस का अधिक मुखर रूप राही की ग़ज़लों में उभरता है। यह निर्विवाद है कि नज़्मों में जहाँ वे खुल कर व्यक्ति-मानस की गहराइयों में बैठते हैं, ग़ज़लों में वे बहिर्मुख होने की ज़्यादा छूट पाते हैं। प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति भी ज़्यादा सीधी और निर्बाध ग़ज़लों में ही हो पाती है।

वो भी घमत्कार हुआ था कि दिल में तेरे ग़म की नमी बहुत दिनों रही
 नहीं तो हँस कर फूल (झड़ते हैं और) काँटा भर होके रह जाते हैं।

मेरे ख़्वाब रूठ के गए थे, दिल की पहचान ही भूल गया था मैं
 आज तू आया, सच मानो मैं ने आज ही अपना आपा पहचान लिया।

शहर की पगली सड़क पहाड़ और जंगल चली गई
 इस तरह मेरी आस्था के दामन में संदेह और पैठ गया।

बाज़ार के बीच चुप्पी का रेगिस्तान गुज़र गया
 किस की (करनी) थी और किस पर बीत गई।

बंधु और बंधव जिस के वार हैं
 कभी- कभी शहर में उसे "आदमी" कहते हैं।

आज तूफ़ान बेमंजिल भटकते हैं
 कल ये सब घरों में रहते थे।

अजदहे में मुहँ से मणि छीन
 रात के लिए सूरज तो गढ़।

समय की अस्थिरता और स्थायित्व के बदले संक्रमणशीलता का
 आभास कवि को सातवें -आठवें दशक में जगत की अगम्यता का आभास

कराता है: (सुबह) इस चोटी पर उगी/ उस चोटी पर डूबी/ गाँव को अपना नाम याद नहीं रहा/ शहर, जनाज़ा बीच में छोड़ के ही चला गया.....

अस्तित्व एक ही स्थिति न हो कर विभिन्न क्षणभंगुर स्थितियों का एक तर्कविरुद्ध पुंज है, यह मानने वाला कवि निरंतर प्रश्नाकुलता से ग्रस्त दिखता है क्योंकि अब उस की मानसिक परिपक्वता के सामने कोई सीधा सरल हल नहीं टिकता। भारतीय भाषाओं के अन्य कवियों से तुलना करते हुए हम देखते हैं कि आधुनिक बोध वाला "राही" अनुभवों की संकुलता को मुहावरे की संकुलता से बचाने की कोशिश में है, जिस से कि उस का संप्रेषण आसान ओर सफल हो। देखिए— ("खिराज"— उपहार/ भेंट" कविता से)

छाया की जलवल्लरी

खुली धूप में ताता पत्ता मैं ने तोड़ा, पर

कहीं नज़र न आई वो खुशबू

उस ने मुझ से कहा—

कान खोलके सुनोगे तो

समंदर के उपर तैरती सोनमछलियों का पहनावा पाओगे।

इस बिम्ब के भीतर कई अंतर्वर्ती बिम्बों की अंतर्भुक्ति से हम अछूते नहीं रह सकते। यहाँ इच्छा और पूर्ति, प्रयास और परिणति के आपसी तर्कहीन रिश्तों को कवि अपनी असमंजस मनस्थिति के परिप्रेक्ष्य में उभारता है तो कविता बयान भर या बिम्बचित्रण का तमाशा भर बनने से उबरती है। इसी प्रकार इस कविता की इन पंक्तियों में केवल बिम्ब समझ कर बात की गहराई में नहीं उतरा जा सकता, इसे संपूर्ण आशय के प्रकाश में देखना होगा।

अंधे रास्ते में कही गई निर्व्याज बात

पत्थर तोड़ के तलवार उगा देती है

यों शेर के मायने तथा पहाड़ी नद का दुर्बोध केन्द, (दोनों)

व्यापक हो कर फैलते जाते हैं

पाँच दरियाओं का पानी आखिर पानी ही तो है

लहर - लहर से मिलती हैं और दोनों

भँवर में जकड़ जाते हैं.....

पूरी कविता सृजन के क्लेशों की व्याख्या करती है। यह मन की रचनात्मक गुह्यता को प्रकट भाषा में ढालने की प्रक्रिया का एक बहुत ही परिपक्व और ईमानदार प्रयास है। कविता केवल प्रयोग की अपूर्वता की वजह से महत्वपूर्ण नहीं बन जाती बल्कि कवि व्यक्तित्व की अपूर्व (परंतु दुर्लभ नहीं)

अनुभूति को शब्द (कहीं-कहीं नया गढ़ा शब्द) देने के उपक्रम के कारण महत्वपूर्ण बनाती है। राही की कई कवितियाँ इस वर्ग में आती हैं, यद्यपि स्पष्ट वर्गीकरण करके उन को समझाना उन के साथ अन्याय करना है। भाषा और शब्द यहाँ विस्फोट की स्थिति में होते हैं और सीमित शब्दावली के घेरे को तोड़ देते हैं। समकालीन जीवन की उलझनों, खास तौर पर वैचारिक संकुलताओं के लिए भाषा की अपर्याप्ति का प्रश्न बीसवीं शती के आठवें-नवें दशक में बहुत प्रमुख हो उठा था। ऐसे में समर्थ कवियों ने अपने लिए अपने रास्ते चुने। उन्होंने जितना भाषा से लिया उससे अधिक उसे दिया। “राही” इस प्रसंग में बड़े रचनाशील रहे हैं। कविता के अतिरिक्त आलोचना और भाषणकला दोनों में समान प्रवीण हैं। यह संयोग नहीं कि इन दोनों अभिव्यक्ति-क्षेत्रों में भाषा के सतत परिमार्जन की ज़रूरत पड़ती रहती है। प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों के लिए यह असंभव नहीं होता।

904, सुभाष नगर,
जम्मू-180005



कश्मीरी नाटक का सफ़र

डॉ० रतन तलाशी

कश्मीरी नाटक के विकास की परंपरा में लोक नाट्य “भांडपाथर” का महत्वपूर्ण योगदान है। “भांडपाथर” दो शब्दों से बना हुआ है। “भांड और पात्र” ये दोनों शब्द संस्कृत भाषा के हैं। भारत की कुछ आधुनिक भाषाओं में यह शब्द ‘बर्तन’ के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। पंजाबी में भांड नकाल को कहते हैं। कश्मीरी में भी भांड एक उस कुशल कलाकार को कहा जाता है जो नकाली द्वारा अपनी प्रभावपूर्ण वेशभूषा, कटाक्ष, भाव भंगिमा आदि से किसी भी सामाजिक अथवा राजनितिक विषय को जनता के सामने प्रस्तुत करते थे। वाल्टर लारन्स के अनुसार १६ वीं सदी में भांडकलाकार लगभग कश्मीर के ७० गाँवों में रहते थे। जिन में, अकिनगाम, वाहथोरा, वुमई सुईबुग आदि कुछ एक हैं। इस लोकनाट्य की धारा ग्रामप्रधान थी। भारत में १६ वीं सदी में युरोपीय नाट्य-संस्कृति के प्रवेश से लोकनाटक के समान्तर नगरप्रधान नाटक मंडलियां चल पड़ी इस का प्रभाव कश्मीर की नाट्यकला पर भी पड़ा।

बीसवीं सदी में पारसी थिएटर कम्पनी के नाटकों से प्रभावित होकर कश्मीर के कई कलाकारों ने भी नाटक कम्पनी खोलने का संकल्प किया। अपने कार्यकाल के दौरान इस कम्पनी ने जो नाटक मंच पर प्रस्तुत किए, वे सभी उर्दू में लिखे गये थे। यह कम्पनी यद्यपि अधिक देर नहीं चली फिर भी इससे कश्मीरी नाटक के विकास के लिए महत्वपूर्ण वातावरण उपलब्ध हुआ।

कश्मीर का पहला मंच नाटक १९२६ में नन्द लाल कौल ने लिखा। यह नाटक राजा हरिष चन्द्र की सत्य परीक्षा के पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया था। कश्मीरी नाटक साहित्य में इस नाटक को वही स्थान प्राप्त है जा उर्दू या हिन्दी में अमानत के “इन्द्रसभा” को है। यह नाटक कई बार श्रीनगर में मंचित किया गया। इस नाटक के बाद बिसमिल, नील कंठ शर्मा और दिलसोज़ आदि ने भी कई नाटक लिखे जिनमें ‘संतय वथ’, ‘अकनन्दुन’, ‘प्रेमच कहवट’ ‘बिल्व मंगल तथा’ ‘लैला मजनून’ आदि कुछ एक हैं। इन नाटकों पर कौल के नाटक की इतनी गहरी छाप देखी जा सकती है कि उनकी वस्तु तथा शिल्प दोनों इससे स्वतन्त्र नहीं लगते।

कश्मीरी नाटक में तकनीक की दृष्टि से नया प्रयोग १९३८ में

मोहिउद्दीन हाजिनी ने "ग्रीस सुन्द गरू" लिखकर किया। इस नाटक के संवाद संक्षिप्त तथा प्रभावशील थे। इनमें पौराणिक कथाओं पर आधारित नाटकों की तरह काव्यात्मकता का पुट न था। इसका वर्ण्य - विषय सामयिक तथा यथार्थता लिये हुए था। इस नाटक में एक गरीब किसान की दुर्दशा का चित्रण किया गया है जो जागिरदारी निज़ाम में पिस रहा है। इसकी भाषा स्थानीय मुहावरे पर आधारित थी। हाजिनी के नाटक लेखन अनुभव दोबारा बहुत कम प्रयोग में लाया गया।

१९४७ से पहले के कुछ वर्षों में कश्मीर रंगमंच को एक नया मोड़ देने का यत्न किया गया। यहां इण्डियन पीपुल्ज़ थिएटर की एक शाखा खोली गई इन्हीं दिनों प्रसिद्ध अभिनेता तथा रंगकर्मी स्व. बलराज साहनी भी कश्मीर आये और उन्होंने यहाँ के कलाकारों को नाट्य कला के विकास के लिए प्रोत्साहित किया। इसी दौरान प्रेमनाथ परदेसी ने 'बतहर' नाम का नाटक लिखा। इस नाटक में परदेसी ने कश्मीर की खाद्य-समस्या तथा भुखमरी का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया था। उस समय के सरकार ने इस नाटक को रंगमंच पर खेलने की इजाज़त सरकार विरोधी होने के कारण नहीं दी। इस नाटक का आलेख भी सरकार ने ज़ब्त किया परन्तु इतना होते हुए भी कलाकारों का उत्साह भंग नहीं हुआ। इस दौरान कई और नाट्य संस्थाएँ स्थापित हुईं। जिन में 'श्रीप्रताप ड्रामा क्लब, नेशनल ड्रामा क्लब तथा 'सुधार समिति क्लब, मुख्य संस्थाएँ थीं। इन नाटक मंडलियों द्वारा अनेक नाटक उन दिनों श्रीनगर में मंचित हुए जिनमें "सुधार समिति क्लब" का "विधाता" काफी लोकप्रिय हुआ।

१९४७ ई० के आसपास साहित्यकारों तथा कलाकारों द्वारा "कल्चरल फ्रन्ट" अस्तित्व में आया। इस परिषद में शामिल कलाकारों ने वादी में देशभक्ति से ओतप्रोत कई नाटक प्रस्तुत किये जिनमें "कश्मीर यह है" नाटक मुख्य था। यह नाटक उर्दू में लिखा गया था परन्तु इसके गीत कश्मीरी भाषा में थे। यह पहला नाटक था जिसमें स्त्री ने काम किया।

प्रसार

"कल्चरल फ्रन्ट" के प्रयासों से कश्मीरी नाट्यकला का प्रचार ग्रामिण क्षेत्रों में भी बढ़ गया। यह नाटक ग्रामिण समाज में बहुत पसंद किये गये क्योंकि इन में किसानों की जिन्दगी का अच्छा खासा वर्णन था। इन नाटकों में प्रगतिवादी विचार धारा की झलक साफ़तौर से दिखती थी। इस दौर के नाटकों में "तीन बटा चार", "डालर साहिब" तथा "विज छे सान्य" काफी लोकप्रिय हुये। "तीन बटा चार" नाटक का मूल संदेश यह था कि उपज का

तीन चौथाई भाग काश्तकार को मिलना चाहिए और एक चौथाई भाग जमीनदार को। "कल्चरल फ्रन्ट" के बाद "कल्चरल क्रांग्रेस" साहित्य संस्था बनी। कश्मीरी नाटक में नूतन प्रयोग करना इस संस्था का मुख्य ध्येय था। इस संस्था में शामिल दीननाथ नादिम ने १९५३ ई० में "बोम्बर येम्बरजल" नामक गीति नाट्य लिखा जिसकी दर्शकों ने खूब प्रशंसा की। यह ओपेरा प्रतिकात्मक था और इसमें असत्य के ऊपर सत्य तथा सम्राज्यवाद के उपर लोकतन्त्र की विजय दिखाई गई थी।

कश्मीरी नाटक के विकास में १९५६ ई० से मनाने जाने वाले "जश्ने-कश्मीर" का काफी योगदान है। इसी जश्न से नाटक प्रतियोगिताओं का आरम्भ हुआ। "जश्ने कश्मीर" ने कई नये और युवा कलाकारों साहित्यकारों को नाट्य कला की ओर आकृषित किया। दीननाथ नादिम भी गीति नाटक लिखते रहे। उनके साथ साथ अमीन कामिल और नूर मुहम्मद रोहान ने भी कश्मीरी इतिहास और देवमाला के आधार पर कुछ नाटक लिखे। १९५६ ई० के बाद कश्मीरी नाट्य-साहित्य में बहुत प्रगति हुई। मौलिक नाटकों के लिखने के साथ साथ दूसरी भाषाओं से भी कुछ नाटकों का अनुवाद किया जाने लगा। इन अनुवादों से कश्मीरी नाट्यकला का शिल्प पक्ष भी समृद्ध हो गया। इस दौर के प्रमुख नाटक रोशन का "चोरबाजार" भान का "तन तड़ाख" अख्तर का "नसतिहुंद सवाल" साधू का ग्रेंड रेहरसल" है।

१९५६ में "जश्ने-कश्मीर" के साथ साथ इसी साल कल्चरल अकादमी की स्थापना हुई। अकादमी का कश्मीरी नाटक और मंच को जो संरक्षण मिला उस से कश्मीरी नाटक नई शिवरों तक पहुँचा। कश्मीरी रंगमंच और नाटक के विकास में "रेडियो कश्मीर" का भी अमूल्य योगदान रहा है। सन १९७० तक इस केंद्र से लगभग ५०० छोटे बड़े नाटक प्रसारित किये गये।

१९७६ ई० के बाद कश्मीरी नाटक में विषय तथा तकनीक दोनों लिहाज़ से कुछ नूतन तज़रूबे किये गये। इस में मुख्य योगदान मोती लाल क्यमू का है। क्यमू ने "भांडपाडथर" को आधुनिक परिवेश की अभियोजना के लिए प्रयोग में लाया उनके प्रमुख नाटक, "मंजुलयनिकु", "मांगय", "त्रुनोव", "हय क्यागोम", "तोतू अनह", "डख", "येली चलन", तथा "नगर वोदडस्य" हैं। इन सब नाटकों में भांड शैली के संशोधित रूप मिलते हैं। क्यमू का मशहूर नाटक "छाय" है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इस

नाटक की कहानी का आधार कल्हण की राज तरंगणी का वह श्लोक है जिस में वह राजा ललितादित्य के अंतिम युद्ध का वर्णन करता है। "छाय" की तरह लोन का "सुय्या" भी एक प्रमुख ऐतिहासिक नाटक है। लोन ने कश्मीरी नाटक लेखन में "सम्यूल बेकेट" के अवसर्ड थिएटर तकनीक को अपनाया। इस शैली का प्रयोग क्यमू ने भी "हरमखानुख अडन" नाटक में किया है। कुछ कलाकारों ने बरेख्त के इपक थेयटर शैली की तजरुबे को भी अपनाया। हरी कृष्ण कौल का "नाटुक करिव बन्द" इस का अच्छा उदाहरण है। इन तजरुबों से कश्मीरी नाटक लेखन में परिपक्वता आई है।



राष्ट्रगीत

(राष्ट्रपति सम्मानित)

रचयिता: डॉ. बी. एन कल्ला

पूर्व संस्कृत प्राध्यापक, कश्मीर विश्वविद्यालय
श्रीनगर (कश्मीर)

१. है सब धर्मों का यह सार शांति समता प्यार ।
बापू के यह अमर विचार करना इनका सही प्रचार ।। है सब.....
२. सब को जीने का अधिकार परम्परा हमारी है शानदार ।
मिटा दो रंगभेद के द्वार होगा सपना तब साकार ।। है सब.....
३. गंगा जमुना की यह धारा पिलाती सबको अमृत धार ।
गुंजा दो सब में यह विचार मिटा दो दुई की दीवार ।। है सब.....
४. करना सब से सत् व्यवहार मानवता का है यह सार ।
नहीं तो आयेगा अब ज्वार डूबे इसमें सब संसार ।। है सब.....
५. करना सब का है उद्धार होगा बेडा इसी से पार
करना घृणा द्वेष पर प्रहार मिलेगा शांति सुख अपार ।। है सब.....
६. जाति भेद का जो उन्माद बना जग मूढ और मदानध ।
कर पालन तू सदाचार होगा न कही अत्याचार ।। है सब.....
७. विभिन्न धर्मों का विकास विभिन्न मतों का प्रकाश ।
रोको मत इसका प्रसार अन्यथा होगा सब संहार ।। है सब.....
८. भारत मां की एक संतान हिन्दू मुस्लिम सिख इन्सान ।
भिन्न फूलों का चमन संवार बनाना इनका सुन्दर हार ।। है सब.....
९. व्यापक विश्व में अखंड ज्योति समानरूप से सब में झलकती ।
है उपनिषदों का यह सार हो देशभर में इसका प्रचार ।। है सब.....
१०. बुद्ध नानक के अमर संदेश हरते सब का द्वेष क्लेश ।
जीवन का लक्ष्य उपकार हटाना जल्दी मिथ्याचार ।। है सब.....
११. भारत का यह सत्य आधार मिटाना अज्ञान का अन्धकार ।
पल पल रहो खबरदार देश के हम हैं पहरेदार ।। है सब.....
१२. भारत विश्व का ताजदार सब धर्मों का पालनहार ।
ज्ञान-विज्ञान का गहवार सूफी संतों का विहार ।। है सब.....

मौलिक सृजन: अनुवाद और अनुवाद-प्रक्रिया

● डा. ^{सिखन}कृष्ण रैणा

अनुवाद को मौलिक सृजन की कोटि में रखा जाए या नहीं, यह बात हमेशा चर्चा का विषय रही है। अनुवादकर्म में रत अध्यवसायी अनुवादकों का मत है कि अनुवाद दूसरे दर्जे का लेखन नहीं, अपितु मूल के बराबर का ही सृजनधर्मी प्रयास है। बच्चन जी के विचार इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं— “मैं, अनुवाद को यदि मौलिक प्रेरणाओं से एकात्मक होकर किया गया हो, मौलिक सृजन से कम महत्व नहीं देता। अनुभवी ही जानते हैं कि अनुवाद मौलिक सृजन से अधिक कितना कठिन — साध्य होता है। मूल कृति से रागात्मक सम्बन्ध जितना अधिक होगा, अनुवाद का प्रभाव उतना ही बढ़ जाएगा। वस्तुतः सफल अनुवादक वही है जो अपनी दृष्टि भावों/कथ्य/आशय पर रखे। साहित्यानुवाद में शाब्दिक अनुवाद सुन्दर नहीं होता। एक भाषा का भाव या विचार जब अपने मूल भाषा—माध्यम को छोड़कर दूसरे भाषा —माध्यम से एकात्म होना चाहेगा तो उसे अपने अनुरूप शब्दराशि संजोने की छूट देनी ही होगी। यहीं पर अनुवादक की प्रतिभा काम करती है और अनुवाद मौलिक सृजन की कोटि में आ जाता है।” (साहित्यनुवाद, संवाद और संवेदना, पृ. ८५) मरा भी यही मानना है कि अनुवाद एक तरह से पुनर्सृजन ही है और साहित्यिक अनुवाद में अनुवाद को स्वीकार्य/पठनीय बनाने के लिए हल्का-सा फेरबदल करना ही पड़ता है।

यहां पर अपने मत की पुष्टि में दो-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा। अंग्रेजी का एक वाक्य है: Small insects are crawling on the floor. हिन्दी में इस वाक्य का अनुवाद यों हो सकता है— १. छोटे कीड़े फर्श पर रेंग रहे हैं। २. छोटे-छोटे कीड़े फर्श पर रेंग रहे हैं। पहला अनुवाद शब्दानुवाद कहलाएगा और दूसरा साहित्यिक या भावानुवाद। दूसरा उदाहरण लें: Small leaves are falling from the tree. हिन्दी में इस वाक्य का अनुवाद इस तरह हो सकता है—१. छोटे पत्ते वृक्ष/पेड़ से गिर रहे हैं। २. नन्हीं पत्तियां वृक्ष/पेड़ से गिर रही है। ३. नन्हीं-नन्हीं पत्तियां पेड़/वृक्ष से गिर रही है। इन तीनों वाक्यों में पहला शब्दानुवाद, दूसरा भाव/साहित्यिक अनुवाद तथा तीसरा

सृजनात्मक अनुवाद कहलाएगा । हिन्दी अनुवादों के उक्त विभिन्न रूपों में अंग्रेजी के प्रथम वाक्य का दूसरा रूप तथा दूसरे वाक्य का तीसरा सृजनात्मक अनुवाद कहलाएगा। हिन्दी अनुवादों के उक्त विभिन्न रूपों में अंग्रेजी के प्रथम वाक्य का दूसरा रूप तथा दूसरे वाक्य का तीसरा रूप अपेक्षाकृत अधिक सुन्दर/सजीव बन पड़ा है। 'छोटे' व 'नहीं' की पुनरुक्ति ने अनुवाद के सौन्दर्य को निश्चित रूप से बढ़ाया है। मूलपाठ में यद्यपि इन दो शब्दों की पुनरावृत्ति नहीं थी, क्योंकि अंग्रेजी भाषा की यह प्रकृति नहीं है, मगर हिन्दी-अनुवाद में अतिरिक्त शब्द जोड़ने से अनुवाद में कलात्मकता के साथ-साथ स्वाभाविकता खूब आ गई है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्यिक अनुवादों में सृजनात्मक तत्व की खासी भूमिका रहती है।

अनुवाद एक श्रमसाध्य और कठिन रचना- प्रक्रिया है। वह मूल रचना का अनुकरण मात्र नहीं वरन् पुनर्जन्म होता है। वह द्वितीय श्रेणी का लेखन नहीं, मूल के बराबर का ही दमदार प्रयास है। इस दृष्टि से मौलिक सृजन और अनुवाद की प्रक्रिया प्रायः एक समान है। दोनों के भीतर अनुभूति पक्ष की साधना रहती है। अनुवादक जब तक कि मूल रचना की अनुभूति, आशय और अभिव्यक्ति के साथ तदाकार नहीं हो जाता तब तक सुन्दर एवं पठनीय अनुवाद की सृष्टि नहीं हो पाती। इसलिये अनुवादक में सृजनशील प्रतिभा का होना अनिवार्य है। मूल रचनाकार की तरह अनुवादक भी कथ्य को आत्मसात् करता है, उसे अपनी- चितवृत्तियों में उतारकर पुनः सृजित करने का प्रयास करता है तथा, अपने अभिव्यक्ति-माध्यम के उत्कृष्ट उपादनों द्वारा उसको एक नया रूप देता है। इस सारी प्रक्रिया में अनुवादक की सृजनप्रतिभा या कारयित्री प्रतिभा मुखर रहती है। अनुवाद में अनुवादक की कारयित्री प्रतिभा महत्व को सभी अनुवाद-विज्ञानियों ने स्वीकार किया है। इसी कारण अनुवादक को भी एक सर्जक ही माना गया है। और उसकी कला को सर्जनात्मक कला। फिज्जेराल्ड द्वारा उमर खौयाम की रूबाईयों के अनुवाद को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया जा सकता है। विद्वानों का मानना है कि यह अनुवाद खैयाम की काव्य-प्रतिभा की अपेक्षा फिज्जेराल्ड की निजी प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। स्वयं फिज्जेराल्ड ने अपने अनुवाद के बारे में कहा है कि एक मरे हुए पक्षी के स्थान पर दूसरा जीवित पक्षी अधिक अच्छा है (मरे हुए बाज की अपेक्षा एक जीवित चिड़िया ज़्यादा अच्छी है) कहना वे यह चाहते हैं कि अगर मैं ने रूबाईयों का शब्दशः/यथवत अनुवाद किया

होता तो उसमें जान न होती, वह मरे हुए पक्षी की तरह प्राणहीन अथवा निर्जीव होता। अपनी प्रतिभा उंडेलकर फिज़्जेराल्ड ने रूबाइयों के अनुवाद को प्राणमय एवं सजीव बना दिया है।

जिस प्रकार मूल रचनाकार का लेखन 'जीवन और जगत' के प्रति उसकी 'मानसिक प्रतिक्रिया' होता है, और वह अपनी अनुभूति (प्रतिक्रिया) को शब्दों के माध्यम से कलात्मक रूप से अभिव्यक्त करता है, ठीक उसी प्रकार अनुवादक भी मूल कृति को पढ़कर स्पंदित होता है और अपनी उस अनुभूति (प्रतिक्रिया) को वाणी देता है। इस संदर्भ में डॉ. आदिनाथ सोनटक्के के विचार उल्लेखनीय हैं—'अनुवादक को भी जब कोई रचना प्रभावित करती है, तब यह भी अन्तर्बाह्य अभिभूत हो उठता है। यहां तक तो अनुवादक और उन्‍य पाठक की मनोदशा समान—सी होती है किन्तु अनुवादक अपनी आनंदानुभूति में अन्‍यों को भी सहयोगी करने का इच्छुक होने के कारण अनुवाद करने को विवश हो उठता है, जैसे सर्जक अपने भाव—स्पंदन को शब्दांकित करता है। स्रष्टा कथ्य को मन में धोलता रहता है। अनुवादक भी अनुवाद सामग्री को लक्ष्य भाषा में उतारने के लिए घुटता है। एक—एक शब्द का चयन करके समय श्रेष्ठ अनुवादकों को कितना आत्मसंघर्ष करना पड़ता है, यह सर्वादित है..... एक प्रकार से अनुवादक अंत — स्फूर्ति एवं अन्तः प्रेरणा से जब ओतप्रोत होगा, तब उसकी रचना चैतन्यदायी तथा प्राणवान होगी।'

मूल रचनाकार की तरह ही अनुवादक को आत्मविलोपन कर मूल कथ्य की आत्मा से साक्षात्कार करना पड़ता है इसके लिए उसकी सृजनात्मक प्रतिभा उसका मार्गदर्शन करती है। अनुवादक—चिंतक तीर्थ वसंतजी ने सृजनात्मक साहित्य और अनुवाद पर सुन्दर विचार वयक्त किए हैं वे कहते हैं—

“सृजनात्मक साहित्य में और अनुवाद में अंतर है भी और नहीं भी। सृजनशील लेखक अपने भाषा चातुर्य से यथार्थ अनुकरण करता है। उसे अपने जीवन में संसार से जो अनुभव प्राप्त होता है, उसको अपनी कला के माध्यम से अपनी भाषा में प्रसतुत करता है और अनुवादक उसी अनुकृति का अनुकरण करता है। दोनों ही नकल करते हैं, परन्तु एक अपने भावों की भाषा में उतारता है और दूसरा अपने मन में किसी दूसरे के भावों की प्रतिक्रिया—स्वरूप उत्पन्न भावों का तर्जुमा करता है।.....जिस प्रकार नरगिस

का फूल सरोवर में अपनी प्रतिच्छाया देख कर प्रफुल्लित होता है, उसी प्रकार अनुवादक भी अपने व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया को दूसरे की कला में पाकर अनुवाद करने को विवश हो उठता है। उसी कला स्वयं प्रकाशित होते हुए भी किसी ऐसे व्यक्तित्व पर निर्भर करती है, जिसने उसके सुप्त भावों को जागृत किया है।”

यह सही है कि अनुवाद पराश्रित होता है। वह नूतन सृष्टि नहीं अपितु सृजन का पुनर्सृजन होता है। इस दृष्टि से अनुवाद-कर्म को मौलिक-सृजन की कोटि में रखने के मुद्दे पर प्रश्न-चिन्ह लग जाता है। तभी कुछ विद्वान इस कर्म को 'अनुसृजन' की संज्ञा देना अधिक उचित समझते हैं। मगर चूँकि दोनों मूल सृजक और अनुवादक अनुभव, भाषा और अभिव्यक्ति-कौशल के स्तर पर एक-सी रचना-प्रक्रिया से गुजरते हैं, अतः अनुवाद-कार्य को मौलिक-सृजन न सही, उसे मौलिक-सृजन के बराबर का सृजन-व्यापरा समझा जाना चाहिए।

अनुवाद की प्रक्रिया

अनुवाद की प्रक्रिया अपने आप में एक संश्लिष्ट कार्य-व्यपार है। मौलिक सृजन की तरह ही अनुवादक अनुवाद करते समय सृजन के विभिन्न सोपनों से गुजरता है और अन्ततः एक उत्कृष्ट अनूदित कृति का निर्माण करता है। इस सारी प्रक्रिया में उसके चिंतन-मनन की खासी भूमिका रहती है। प्रसिद्ध अनुवाद-विज्ञानी नाइडा ने 'चिंतन-मनन' की इस स्थिति को अनुवाद-प्रक्रिया के संदर्भ में तीन सोपानों में यों विभाजित किया है। विश्लेषण (analysis) २. अंतरण (transfer) ३. पुनर्गठन (rearrangement)

अनुवाद करते समय अनुवादक को क्रमशः उक्त तीनों प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है। सर्वप्रथम अनुवादक स्रोत भाषा के पाठ का चयन कर उसमें निहित संदेश या आशय का विश्लेषण करता है। इस दौरान वह स्रोत भाषा के मूलपाठ का अर्थ ग्रहण करता है। अर्थ ग्रहण कर लेने के पश्चात् वह लक्ष्य भाषा में उसे अंतरित करने की प्रक्रिया में आता है और लक्ष्य भाषा में उसके स्वरूप को निर्धारित कर लेता है। इसके बाद वह लक्ष्य भाषा के स्वरूप प्रकृति/स्वभाव के अनुसार उस कथ्य को पुनर्गठित करता है और इस तरह अनुवाद अपने परिसंजित (finished) रूप में पाठक के समक्ष पहुँचता है। दरअसल, पुनर्गठन अनुवाद प्रक्रिया का अतीव महत्वपूर्ण पक्ष है। पुनर्गठन अनुवाद का तीसरा एवं अत्यंत महत्वपूर्ण चरण है। हर भाषा की

अपनी एक विशिष्ट कथन-शैली या अभिव्यक्ति-प्रणाली होती है। स्रोत भाषा के पाठ को लक्ष्य-भाषा के संस्कार के साथ सफलतापूर्वक जोड़ते हुए कए नया/पठनीय पाठ तैयार करना, सचमुच, अनुवादक के लिए एक चुनौत-भरा काम है। यह काम वह अनूदित पाठ के सृजक की हैसियत से थोड़ी - बहुत छूट लेकर कर सकता है। इसके लिए वह पद्य में लिखी मूलकृति का अनुवाद गद्य में कर सकता है, लम्बे-लम्बे वाक्यों को तोड़कर अनुवाद कर सकता है, व्याकरणिक संरचना में फेर-बदल कर सकता है, आदि-आदि। इस सारी प्रक्रिया में अनुवादक को इस बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि मूल पाठ के संदेश / आशय में कोई फर्क न आने पाए। (अनुवाद-प्रक्रिया डा. रवीन्द्र श्रीवास्तव, पृ० २३)

प्रसिद्ध अनुवादक डा. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर ने अनुवाद-प्रक्रिया को जिन तीन चरणों, यथा-अर्थग्रहण, मन में भाषांतरण और लिखित अनुवाद, में विभक्त किया है, वे प्रकारांतर से नाइडा के वर्गीकरण से मिलते-जुलते हैं। मूलतः अनुवाद प्रक्रिया के अन्तर्गत अनुवादक को दो तरह के पाठों से गुजरना पड़ता है। १- पहला पाठ, जो स्रोत -भाषा के रूप में उसके सामने पहले से ही होता है, जिसका रचियता कोई और होता है और उसके पाठक भी कोई और होते हैं। सर्वप्रथम अनुवादक का इसी पाठ से साक्षात्कार होता है। उसका पहला काम मूलपाठ/ कृति में निहित संदेश / आशय को अच्छी तरह समझना होता है। दूसरे चरण में वह मूलकृति के समझे हुए संदेश/आशय के न केवल भाषांतरित करता है अपितु एक नये पाठ के रूप में प्रस्तुत भी करता है। इस सारी प्रक्रिया में अनुवादक को कई तरह के दबाव से गुजरना स्वाभाविक है। एक ओर उसे मूल कृति में निहित संदेश/आशय को लक्ष्य-भाषा में उपलब्ध भाषा-विधान में ढालना पड़ता है और दूसरी ओर अनूदित पाठ की संरचना कुछ इस प्रकार से करनी पड़ती है कि वह मूलपाठ से समतुल्य बन कर पाठकों के लिए सहज संप्रेष्य/बोधगम्य हो सके। संरचना की इस प्रक्रिया को नाइडा कुछ इस तरह का मानते हैं- जिस तरह विभिन्न आकार के बक्सों के सामान को उनसे भिन्न आकार वाले बक्सों में फिर से जमाया जाता है। चूँकि अनुवादक मूलपाठ का रचियता नहीं है, इसलिये संप्रेषण-व्यपार की कई समस्याओं से उसे जूझना पड़ता है। उसके सामने तो मूलपाठ का 'प्रारूप'/फारमैट मात्र होता है जिसके सामानांतर उसे लक्ष्य भाषा में एक नया/ अंतरित पाठ तैयार करना होता है।

लक्ष्य - भाषा के पाठकवर्ग की अपेक्षाओं एवं भाषिक मानसिकता का उसे पूरा ध्यान रखना पड़ता है। लक्ष्य भाषा की प्रकृति, स्वभाव, संस्कार आदि के अनुरूप उसे अनुवादित-पाठ को सजाना/संवारना पड़ता है।

अनुवाद-प्रक्रिया के जिन विभिन्न चरणों या सोपानों की ओर ऊपर इंगित किया गया है, वे सहज होते हुए भी समस्यापूर्ण हैं। दरअसल, एक भाषा द्वारा जो अर्थ व्यंजित होता है, उसे दूसरी भाषा में उसी रूप में व्यंजित कर पाना हमेशा संभव नहीं होता। होता यह है कि जब एक भाषा की संकल्पना को दूसरी भाषा में अंतरित किया जाता है, तो अनुवाद समरूप (indentical) न होकर समतुल्य (equivalent) होता है। तब ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि अनूदित पाठ में कुछ छूट जाता है, कुछ अतिरिक्त जुड़ जाता है या कुछ मूल से अलग होकर मूल कथ्य को प्रेषित करता है। इस प्रकार अनुवादक को (न चाहते हुए भी) मूल पाठ तथा अनूदित पाठ में संतुलन बनाए रखने के लिए समझौता करने पड़ते हैं। (अनुवाद का व्याकरण, पृ० १३२) डॉ. भोलानाथ तिवारी का यह कथन कि अनुवाद करते समय 'न कुछ छोड़ो, न कुछ जोड़ो' साहित्यानुवाद में प्रायः कारगर सिद्ध नहीं होता है। सुन्दर, सरल एवं पठनीय अनुवाद के लिए यह आवश्यक है कि अनुवादक मूल में 'आटे में नमक' समान-फेरबदल करे। इससे उसका अनुवाद अधिक संगत, स्वाभाविक एवं सहज बनेगा। हाँ, एक बात अवश्य है कि इस सारी प्रक्रिया में मूल की आत्मा की रक्षा करना अनुवादक के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। अनुवाद के अच्छे/बुरे होने के प्रश्न को लेकर कई तरह की भ्रांतियाँ प्रचलित हैं। आरोप यह लगाया जाता है कि मूल की तुलना में अनुवाद अपूर्ण रहता है, अनुवाद में मूल के सौन्दर्य की रक्षा नहीं हो पाती, अनुवाद दोयम दर्जे का काम है आदि-आदि।

अनुवाद-कर्म पर लगाए जाने वाले उक्त आरोप मुख्यतः अनुवादक की अयोग्यता के कारण हैं। "अनुवाद में मूल भाव सौन्दर्य तथा विचार सौष्ठव की रक्षा तो हो सकती है परन्तु भाषा-सौन्दर्य की रक्षा इस लिए नहीं हो पाती क्योंकि भाषाओं में रूपरचना तथा प्रयोग की रूढ़ियों की दृष्टि से भिन्नता होती है। ध्यान से देखा जाए तो अनुवाद के दौरान मूल के कुल सौन्दर्य में जितनी हानि होती है, उससे भी कहीं अधिक मूल का सौन्दर्य सुरक्षित रहता है और हानि की खासी भरपाई होती है।--- मौलिक लेखन के बाद ही अनुवाद होता है, अतः निश्चित रूप से यह क्रम की दृष्टि से दूसरे स्थान पर

है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि गुणवत्ता की दृष्टि से भी वह दूसरे स्थान पर है। जिस प्रकार मौलिक लेखन बढ़िया भी हो सकता है और घटिया भी, उसी प्रकार अनुवाद भी घटिया/बढ़िया हो सकता है। उक्त आरोपों से अनुवाद-कार्य का महत्व कम नहीं होता। पूर्व में कहा जा चुका है कि अनुवादक दो भाषाओं को न केवल जोड़ता है अपितु उनमें संजाई ज्ञानराशी को एक-दूसरे के निकट लाता है। अनुवादक अन्य भाषा की ज्ञान-संपदा को लक्ष्य भाषा में अंतरित करने में शास्त्रीय ढंग से कहां तक सफल रहा है, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि लक्ष्य भाषा के पाठकों का अनुवाद द्वारा एक नई कृति से परिचित होना है। मूल रचना का स्वल्प परिचय पूर्ण अज्ञान से बेहतर है। गेटे की वे पंक्तियां यहां पर उद्धृत करने योग्य हैं जिनमें उन्होंने कार्लाइल को लिखा था, "अनुवाद की अपूर्णता के बारे में तुम चाहे कुछ भी कहो, परन्तु सच्चाई यह है कि संसार के व्यावहारिक कार्यों के लिये उसका महत्व असाधारण बहुमूल्य है"।

अनुवाद-प्रक्रिया एवं उससे जुड़े अन्य व्यावहारिक पक्षों पर ऊपर जो चर्चा की गई वह अनुवाद-कला की बारीकी को वैज्ञानिक तरीके से समझने के लिए है। दरअसल, यह अनुवादक की निजी भाषिक क्षमताओं, अनुभव एवं प्रतिभा पर निर्भर है कि उसका अनुवाद कितना सटीक, सहज और सुन्दर बनता है।

- 2/537, अरावली विहार,

अलवर, राजस्थान-301001



वर्तमान समाज : मूल्य-संक्रमण

डॉ० दिलशाद जीलानी

समाज और व्यक्ति दोनों का एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों का एक-दूसरे के बिना अस्तित्व नहीं। प्रत्येक समाज का अपना मूल्य, आदर्श, दृष्टिकोण आदि होते हैं और उन्हीं के आधार पर वह प्रत्येक के व्यवहार, प्रतिमान निर्धारित करता है और यह आशा करता है कि प्रत्येक उन प्रतिमानों का अनुसरण करेंगे। लेकिन यह आवश्यक भी नहीं कि वैयक्तिक मूल्य, आदर्श, दृष्टिकोण आदि सामाजिक मूल्य, आदर्श, दृष्टिकोण आदि के अनुरूप हो या उनसे शत-प्रतिशत मेल खाते हों, बल्कि यह आवश्यक है कि वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्य, आदर्श, दृष्टिकोण आदि के मध्य एक सामन्जस्य बना रहे। यदि इस सामन्जस्य में कहीं अवरोध उत्पन्न होता है तो उससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का विघटन होता है क्योंकि – “सामाजिक संगठन में व्यक्तिगत मनोवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों के बीच सापेक्षित सामन्जस्य (अनुरूपता) निहित है।” (1)

सामाजिक मूल्य समाज को केन्द्र में रखकर चलते हैं। व्यक्ति की सत्ता उन्हें समाज की इकाई के रूप में स्वीकार्य है। सामाजिक मूल्यों को सामूहिक-सहयोग (Collective Co-Operation) से घनिष्ट सम्बन्ध है। बिना सामाजिक मूल्यों के न तो सामाजिक संगठन और न सामाजिक विघटन का कोई अस्तित्व हो सकता है। इसी कारण समाज का इन मूल्यों के प्रति आदर का भाव रहता है तथा ये मानव के हित को प्रदर्शित करते हैं। अतः समाज के लिए सामाजिक मूल्य की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। क्योंकि “मूल्य-निहीन समाज, समाज नहीं कहला सकता। यह तो वे अदृश्य आदेश हैं जिनका पालन अपने आप होता रहता है। इंग्लैण्ड के संविधान की भांति अलिखित हैं जिन्हें परम्परागत मान्यता मिलती है।” (2)

मानव एक विवेकशील प्राणी है। वह जिन सामाजिक संस्कारों में पलता है, उन्हें अपनाता है। किन्तु जब यही संस्कार उसके विकास मार्ग में अवरोधक बन जाते हैं तो वह सामूहिक रूप से उनसे जुझता है और यह संघर्ष ही अन्ततः नये मूल्यों का जनक हो जाता है। “हर नये युग में जीवन-मूल्य अपना नया संस्कार करते हैं— यही उनका कल्प है। अपने इस

(1) श्री शम्भुरत्न त्रिपाठी— ‘समाजशास्त्रीय विश्वकोष’, पृष्ठ ३६०

(2) डा० हेमन्त कुमार पानेरी— ‘स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य-संक्रमण’ पृष्ठ २७

नये संस्कार में उनका पुराना रूप नया बनता है। इस रूप में मानव-संस्कार पुराने के प्रवाह-क्रम का ही अगला विकास होता है।⁽¹⁾ इस प्रकार मूल्यों में कभी भी स्थिरता नहीं आती, वे गतिशील हैं क्योंकि वे मानव चेतना के अनुभव से सम्बद्ध हैं। चेतना का संघर्ष, अनुभव की प्रक्रिया से मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है। अतः मानव की आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं के अनुरूप ही मूल्य अपना स्वरूप बदलते हैं।

इस प्रकार समय और परिस्थितियों के अनुरूप मूल्यों ने अपना श्रृंगार किया है। कोई भी मूल्य स्थिर नहीं क्योंकि "मानवीय मूल्य विराट मानव-जीवन की अगणित शिराओं में संचरित होता रहता है। जहाँ भी ये रक्त-प्रवाह रुका, वहीं अंग पक्षघात से आहत होकर सूख जाता है। बेकाम हो जाता है।"⁽²⁾ अतः मूल्यों का सृजन-सिंघन का कार्य तो प्रत्येक क्षण चलता रहता है फिर भी कहा जा सकता है कि "सम्पूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी, वे झूठे पड़ गये हैं, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है।"⁽³⁾ वर्तमान समाज यथार्थ समाज है जो धीरे-धीरे परिवर्तनों में जटिलतर होता गया है। यथार्थ तो परिवर्तनमान है इसलिए नये यथार्थ भिन्न पुराना यथार्थ भी होता है और नये मूल्य से भिन्न पुराना मूल्य भी। पर इनके बीच साफ-साफ विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती क्योंकि पुराना यथार्थ नये यथार्थ में जीता रहता है।

आज परम्परागत मान्यताओं के प्रति हमारा लगाव कम होता जा रहा है। आज हमारे लिए वर्तमान महत्वपूर्ण हो चला है जिसे हम अधिकाधिक समग्रता से भोगने के लिए तत्पर हैं जबकि भूत और भविष्य हमारे लिए निस्सार एवं निरर्थक हो चले हैं क्योंकि दो भयानक युद्धों तथा विभाजन की विभीषिका से मानव त्रस्त हो उठा है और जीवन की क्षण भंगुरता के विश्वास ने उसमें यह अभिवृत्ति पैदा की कि प्राप्त अल्प समय को जितना चाहो सुख से व्यतीत करो, जिससे वैयक्तिक मूल्यों को प्रश्रय मिला। इस प्रकार पुराने आदर्श आज हास्यास्पद और दुर्बोधि हो चुके हैं और जो बातें एक समय में नगण्य थीं वे जीवनादर्श का सामर्थ्य ग्रहण कर रही हैं। इस सब को हम उदाहरणों के द्वारा समझ सकते हैं।

(1) डा० राम गोपाल सिंह चौहान- 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास', पृष्ठ 38

(2) डा० धर्मवीर भारती- 'मानव, मूल्य और साहित्य', पृष्ठ 138-139

(3) डा० धर्मवीर भारती- 'मानव, मूल्य और साहित्य', पृष्ठ 69

हिन्दू समाज का आधार संयुक्त परिवार था। प्रत्येक हिन्दू इस संयुक्त परिवार के बाहर किसी समाज तथा समूह को स्वीकार नहीं करता था। यह संस्था धर्म सम्पन्न हिन्दू कानूनों तथा रीति-रिवाजों के अनुसार चलती थी। समाज में व्यक्ति का अस्तित्व किसी समूह के सदस्य के नाते था, इसलिए वह परिवर्तन नहीं ला सकता था। ऐसा करने पर समाज उसका बहिष्कार कर देता था।⁽¹⁾ इस प्रकार संयुक्त परिवार भारतीय संस्कृति की आधारशिला थी तथा व्यक्तिवाद के स्थान पर समष्टिवाद के आदर्शों की पुष्टि करती थी। लेकिन आज संयुक्त परिवार का मूल्य परिवर्तित होकर आणविक परिवार का रूप धारण कर चुका है। अब 'छोटा परिवार सुखी परिवार' ही समय की आवश्यकता के अनुसार सशक्त सामाजिक मूल्य बन गया है।

जबकि परिवार मानवीय सम्बन्धों की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है क्योंकि सम्बन्ध ही मनुष्यों के बीच आन्तरिक आत्मीयता का सूत्र है जो अकेलेपन को मिटाता है। सम्बन्ध का बीच मनुष्य के जन्म में ही निहित है। सम्बन्धों के सूत्र से ही मनुष्य का अस्तित्व टिका रहता है। सम्बन्धों से रहित जीवन शून्य हो जाता है। उदाहरण स्वरूप— मनुष्य का व्यक्तित्व गणित के शून्य के समान है जो अपने आप में एक निषेधात्मक सत्ता है। किसी संख्या के साथ मिलकर ही वह मूल्यवान बनता है। इसी के फलस्वरूप सम्बन्धों के सहयोग से ही व्यक्ति का अस्तित्व भावात्मक मूल्य ग्रहण करता है। लेकिन आज के मानवीय सम्बन्ध जीवन के तनाव, एकाकीपन, विघटन, अजनबीपन और व्यर्थता आदि के एहसास के कारण परिवर्तित होते जा रहे हैं। सम्बन्ध जो परम्परागत अर्थों में बन्धन के प्रतीक थे, अब वे सहज होते जा रहे हैं। इसी कारण आज सम्बन्धों को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता है जितना कि स्नेह को। जहाँ और जिससे स्नेह हो जाये वही सम्बन्धों का रूप धारण कर लेता है। चाहे वह अपना हो या पराया।

अब तो यह माना जाने लगा है कि "समाज में आदर-सम्मान के अधिकार और अधिकृत के जो रिश्ते हैं वे साधन-सम्पन्न लोगों के षडयन्त्र हैं। अपनी सुविधाओं, सुखों और अधिकारों को सुरक्षित बनाये रखने के लिए

(1) देखिये—

The unit of Hindu society is not the individual but the joint family ... Beyond this extended joint family the Hindu in practice recognises no society or community. This is the widest social group that the Hindu evolved and is therefore the limit of his allegiance, of his social relations of his loyalties. It is the bed rock on which the Hindu social organisation is built.

K M. Panikkar, 'Hindu Society at Crossroads', P 19

पूरी समाज-व्यवस्था शोषण पर आधारित है। सारे सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित हैं। आधुनिक बोध में भौतिक जीवन ही सब कुछ है इससे इतर और कुछ नहीं।⁽¹⁾ अतः आज व्यक्ति थोपे हुए सम्बन्ध-सिद्धान्तों को प्याज के छिलकों की भांति उतार कर फेंक देता है।

विवाह पहले एक धार्मिक कृत माना जाता था जिसे कि भगवान अपनी मर्जी से जोड़ता या तोड़ता था। पर आज विवाह को एक धार्मिक बन्धन न मानकर एक सामाजिक समझौता (Contract) माना जाता है अथवा यह कहिये कि यौन तृप्ति का साधन रह गया है जिसमें यदि विसंगति आ जाये तो तलाक के विकल्प को एक दम अपना लिया जाता है। इस प्रकार वर्तमान मनोवृत्ति और विवाह से सम्बन्धित परम्परागत सामाजिक मूल्य के मध्य संघर्ष उत्पन्न होता है जिससे परम्परागत सामाजिक मूल्य विघटित होकर नये को प्रश्रय मिलने लगता है क्योंकि इसके द्वारा स्थायी एक विवाह (Permanent Monogamy) के मूल्य को धक्का लगने की आशंका है।

परम्परागत हिन्दू विवाह के अन्तर्गत अन्तर्विवाह (Endogamy) का ही आदर्श था लेकिन यह मूल्य परिवर्तित होकर अनतर्जातीय की ओर बढ़ रहा है।

स्त्री का दान (कन्यादान) किया जाता था। लोगों का मत था कि दान की हुई चीज फिर दूसरे व्यक्ति को नहीं दी जाती और इसी आधार पर दूसरे विवाह को अनुचित ठहराया गया था। लेकिन आज समाज में तलाक शुदा अथवा विधवा के किए पुरर्विवाह के अनुकूल मनोवृत्तियों का विकास नैतिक दृष्टिकोण के आधार पर हो रहा है।

वैवाहिक सम्बन्धों की भांति प्रेम-सम्बन्धों में भी परिवर्तन आया है। इस क्षेत्र में त्याग और आदर्श जैसे शब्द अब अर्थहीन हो चुके हैं। प्रेम का अब न रुढ़ नैतिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध रह गया है और न अब हर प्रेम सम्बन्ध की सामाजिक परिणति ही अनिवार्य है। प्रेम अब नितान्त व्यक्तिगत अनुभव है जिसे परम्परागत सामाजिक नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में देखना आवश्यक नहीं रह गया है।

प्राचीन काल में पति पत्नी का सर्वस्व होता था। वही उसका देवता तथा मालिक था। चाहे पति जुआरी, शराबी, चोर, अत्यचारी ही क्यों न हो। पत्नी उसके प्रति वफादार रहकर सेवा करती थी। लेकिन आज यह भावना समाप्त हो चली है। आज पति की निरंकुशता का तेजी से अन्त हो रहा है।

(1) डा० हरदयाल- 'आधुनिक गंध और विद्रोह', पृष्ठ ११

आज पति केवल नाम मात्र का प्रधान रह गया है। आज पति-पत्नी का सम्बन्ध सहयोगिता की ओर बढ़ रहा है। अब पत्नी पति की दासी नहीं साथी रह गई है। इसलिए साथी के रूप में दोनों के अधिकार भी समान हो चले हैं।

किसी समय भारतीय परिवार में पुरुष का निरंकुश शासन रहता था। आज स्थिति इतनी बदल चुकी है कि किसी समय अबला कहलाने वाली नारी में अब दूसरों का बोझ उठाने का सामर्थ्य भी आ गया है। नारी की आर्थिक स्वतन्त्रता से परिवार में पुरुष के एक छत्र शासन का सिंहासन डोल उठा है।

आज नये विचारों, आदर्शों, मूल्यों का संघर्ष पुराने विचारों, आदर्शों तथा मूल्यों के साथ हो रहा है। उदाहरणों के द्वारा इसको ऐसे समझा जा सकता है जैसे— परिवार में पहले कन्या की स्थिति, प्रतिष्ठा, महत्त्व और मर्यादा हीन-अवस्था में थी। उसका कार्य-क्षेत्र सिर्फ घर तक ही सीमित था। न तो वह अपने विवाह के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट कर सकती थी और न ही अन्य मामलों में। इसी प्रकार बहू से जो लज्जाशील हो, सास-ससुर तथा पति की सेवा कर सके आदि गुणों की आशंका की जाती थी। परन्तु सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप इन आदर्शों तथा मूल्यों में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। आज लड़कियां घर की दहलीज पार कर चुकी हैं और अपने विवाह अपनी इच्छा से करती हैं। उसी प्रकार बहू नौकरी के लिए घर से बाहर जाती है। सास-ससुर की सेवा तो दूर अपने बच्चों का लालन-पालन आयाओं तथा नर्सरी पर छोड़ा है। पति-सेवा को पराधीनता की पराकाष्ठा मानती हैं। इस प्रकार बहू-बेटी तथा पत्नी के कामकाजी स्वरूप के प्रति जो पूर्वाग्रह थे, वे धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं।

वर्तमान युग 'अर्थ' पर इतना आश्रित है कि इसे 'अर्थ युग' कहा जा सकता है। आज समाज की सभी गतिविधियां और कार्य-कलाप अर्थ से संचालित हैं। इसलिए व्यक्ति अर्थ प्राप्त करने के लिए अपने को गिरवी रखने से लेकर अपने को मिटाने तक के लिए तैयार है। इसी कारण विलम्ब विवाह, सदस्य संख्या पर नियंत्रण, आणविक परिवार जैसे मूल्य हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं। हमारे भारतीय समाज के जो परम्परागत मूल्य थे वे जीवन से निकल कर सिर्फ किताबों में सुरक्षित रह गये हैं।

पहले जन्म से ही मनुष्य का वर्ण निर्धारित होता था। लेकिन आधुनिक युग में मानव की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जातीय बन्धन शिथिल हुए। अब इस व्यक्ति को अधिक सम्मान दिया जाता है जो

अधिक समृद्ध तथा अर्जित योग्यता वाला है। तार्किक व्यवहार को अब अधिक महत्व दिया जा रहा है। व्यक्ति अपने अर्थ बल के आधार पर समाज में उच्च-वर्ग का सदस्य बन सकता है। स्पष्ट है कि आज कर्म गोण हो गया है। आज वर्ग-व्यवस्था का मुख्य आधार है अर्थ।

आज सैक्स का सीधा सम्बन्ध आनन्द से लिया जाता है। यौन-सम्बन्ध पहले विवाह पश्चात् स्थापित किया जाता था लेकिन अब तो गर्भपात को भी वैधानिक संरक्षण प्राप्त है। नई दृष्टि से सैक्स और सन्तति दो पृथक् धारणायें हैं। सैक्स का आज सन्तति से कोई सम्बन्ध नहीं। "पता नहीं, आज की मनुष्यता किस योनिमेध की तैयारी में है। एक ओर सन्तति-निग्रह का सामाजिक पैमाने पर व्यापक प्रसार और दूसरी ओर यौन परिकल्पनाओं की यह उपासना। शायद ही किसी पूर्ववर्ती युग में गर्भाशय का मुख बन्द कर योनाशय का द्वार इस तरह अनुमुक्त किया होगा।" (1)

मित्रता का सम्बन्ध पहले जहाँ पुरुष-पुरुष तथा नारी-नारी के मध्य ही स्थापित हो सकता था वहाँ अब इसका कोई बन्धन नहीं रह गया है, क्योंकि "सैक्स अब पाप-बोध देने वाली क्रिया नहीं, एक वास्तविक और अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकृत और समाह्वक है।" (2) इस प्रकार "अब सम्बन्धों के ध्रुव दो हैं— स्त्री और पुरुष जो सारी संगतियों और विसंगतियों के साथ अपनी प्राकृतिक अपेक्षाओं से सीधे-सीधे सम्बद्ध हैं। संशय-ग्रस्त सम्बन्धों के विजविजाते दलदल अब नहीं है।" (3)

पहले परिवार में जितने बच्चे पैदा होते थे, सब को भगवान की देन, फल कहकर लेते चले जाते थे। यहाँ तक कि बच्चों की पुरवरिश की ताकत हो या नहीं। यह गलत धारणा आज आधुनिक औषधियों के चमत्कार से समाप्त हो चुकी है। आज बच्चे भगवान के दिये फल न होकर व्यक्ति की स्वयं की इच्छा पर निर्भर हैं जो चाहे जितने रख सकता है। आज 'हम दो, हमारे दो' नई नैतिकता का नारा पूर्ण शिखर पर है जिससे वैदिक आर्य का सौ पुत्रों का मूल्य भंग हो चुका है। आज सड़कों पर खुले रूप से प्रदर्शित 'गर्भ निरोध' के प्रचार पट अनैतिक नहीं समझे जाते। इस प्रकार बढ़ती जनसंख्या की रोकथाम के लिए खुले प्रचार का समाचार-पत्रों, पुस्तकों, रेडियो, सड़कों, टी०वी० आदि का माध्यम अपनाया जा रहा है।

(1) डा० कुमार विमल- 'अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ २३१

(2) कमलेश्वर- 'नई कहानी की भूमिका', पृष्ठ १६

(3) कमलेश्वर- 'नई कहानी की भूमिका', पृष्ठ १६

इस प्रकार कहा जा सकता है कि परम्परित नैतिक मूल्यों ने व्यक्ति पर अंकुश का काम किया था, लेकिन वर्तमान युग में परम्परित नैतिकता का भय समाप्त हो चुका है। अब मनुष्य ने अपनी आवश्यकतानुसार नई नैतिकता का निर्माण किया है। नई नैतिकता व्यक्ति के मार्ग में बाधक न बने बल्कि उसके मार्ग को प्रशस्त करती है। जहाँ परम्परित नैतिकता व्यक्ति को तोड़ कर चलती थी वहाँ नई नैतिकता व्यक्ति को जोड़ कर चलती है। नैतिकता के परम्परित रूप ने व्यक्ति को दुर्बल, कुष्ठित, कायर, डरपोक बना रखा था वहाँ नवीन बौद्धिकता के आग्रह ने उसे साहसी, आत्मनिर्भर एवं नीरोग बना दिया है। विगत नैतिकता का जन्म आदर्श के गर्भ में हुआ था किन्तु वर्तमान नैतिकता यथार्थ से उपजी है।

फलतः वर्तमान युग में मनुष्य का पुराने मूल्यों से विश्वास पूर्ण रूप से उठ चला है। उसने पुरानी गली-सड़ी मान्यताओं को कहीं दफन कर दिया है। क्योंकि— “समस्त मूल्यों का भ्रम खुल चुका है। अब कोई मूल्य ऐसा नहीं जिसके खंडित अवशेष शहरों की सड़कों और नालियों में सड़ते हुए न मिलें। कथनी और करनी का अन्तर बढ़ता जा रहा है। हर चेहरे पर मुखौटा है। हर अदा में मक्कारी है। आज सामूहिक और वैयक्तिक जीवन में अनुरूपता नहीं। भविष्य न केवल अनिश्चित है बल्कि अरक्षित भी है। जो कुछ है वह वर्तमान ही है। वह एक क्षण है जिसमें हम जीवित हैं।” (1)

इस मूल्यहीनता के युग में मनुष्य शून्य में दिशाहीन भटक रहा है। उसकी कोई नियति नहीं, कोई भविष्य नहीं, जो भी है केवल वर्तमान का वह क्षण जिसमें वह जी रहा है। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी हम जिस सरलता से प्राचीन परम्पराओं, मान्यताओं एवं मूल्यों को टुकरा रहे हैं, उतनी सरलता से हम नवीन मूल्यों को अपने जीवन में ग्रहण एवं प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे हैं। यह आज के व्यक्ति की विडम्बना है, कि “शीघ्रता से मूल्य टूट तो रहे हैं पर उनका स्थान नवीन मूल्य नहीं ले पा रहे हैं। यह दिग्भ्रम की स्थिति है। इससे बचने के लिए हम भविष्य में जिन मानवीय मूल्यों के विकास का स्वप्न देखते हैं उन्हें इसी क्षण आचरण और जीवन-पद्धति में प्रतिष्ठित करना होगा।” (2)

वस्तुतः आज हम नए और पुराने के बीच भटक रहे हैं। पुराने को तो छोड़ रहे हैं लेकिन नये को पूर्ण रूप से अपनाने में असमर्थ भी हैं। हमें

(1) देवेन्द्र डस्सर— “साहित्य और आधुनिक युग बोध”, पृष्ठ १४

(2) डा० हेमन्द कुमार पानेरी— “स्वातन्त्र्य और नैतिकता”, पृष्ठ २५

चाहिये कि अपनी परम्पराओं को न छोड़ें, साथ ही नये पन में जो अच्छाइयाँ हैं, उन्हें भी अपना लें। अतः कहा जा सकता है कि इस मूल्य-संक्रमण के दौर में भी हम परम्परा से पूर्ण विमुख नहीं रह सकते, क्योंकि आधुनिक से आधुनिक विचार भी परम्परा की भित्ति पर ही खड़ा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान-समाज मूल्यों के संक्रमण काल से गुजर रहा है। आज जितना टूट रहा है उतना जुड़ नहीं पाता। परम्परागत मूल्य अपने जीवन की अन्तिम सांसों ले रहे हैं। मूल्य आज जो उभर रहे हैं, हो सकता है कि आने वाले युग में क्षीण प्रतीत होने लगें, क्योंकि मानव इनकी उपयोगिता, अनुपयोगिता का तार्किक रूप से ग्रहण कर रहा है। अतः कहा जा सकता है कि इस परिवर्तन के दौर में कोई मूल्य निश्चित स्वरूप नहीं ले पाया है। समाज मूल्य-संक्रमण की कठिन परिस्थितियों से गुजर रहा है।

लोकतंत्र और राष्ट्र भाषा

● डा. मनीषा रानी शर्मा

“लोकतंत्र और राष्ट्र भाषा” के प्रश्न पर विचार करते हुए लोकतंत्र की मूल प्रकृति और राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार करना ज़रूरी हो जाता है।

एक विशाल देश की महान लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंग और लोकतंत्र की पहली ज़रूरत यह है कि हम अपने देश की सभी संस्कृतियों, धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों और भाषाओं का ध्यान रखें। हमारा देश एक बहुभाषी राष्ट्र है। इसी लिए हमारे यहाँ भाषा समस्या का होना और जटिल होना स्वभाविक है। महात्मा गाँधी को इस समस्या की गहरी पहचान थी। इसलिए एक लोकतांत्रिक देश में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर उनके विचार बड़े स्पष्ट थे।

मुझे लगता है कि राष्ट्रभाषा के प्रश्न को राजभाषा और सम्पर्कभाषा के प्रश्न से अलगया जाना चाहिए क्योंकि राष्ट्रभाषा का प्रश्न उन समस्याओं से जुड़ा हुआ नहीं है जिन समस्याओं से राजभाषा और सम्पर्कभाषा के प्रश्न जुड़े हैं।

सम्पर्कभाषा का प्रश्न यह है कि एक विशाल देश के ऊपरी तौर पर भिन्न प्रतीत होने वाले दूरस्थ समाजों के आपसी सम्पर्क की भाषा कौन सी हो? यह सवाल सीधे-सीधे हिन्दुस्तान की जनता की एक समस्या से जुड़ा है और हमारे देश का आम आदमी इससे जूझ रहा है। वह एक ऐसी भाषा के माध्यम से सम्पर्क करता है जो न तामिल है, न तेलगु है, न कन्नड़ है, न हिन्दी है, न बंगला है, न पंजाबी है और न ही उड़िया है बल्कि एक ऐसी भाषा है जो इन सब के बोलने वालों के सम्पर्क से जन्मी है और निरन्तर विकसित हो रही है। सम्पर्क भाषा बनाई नहीं जाती, अपने आप बनती है। हमारे देश में संपर्क भाषा, जिसे हम हिन्दुस्तानी कहते हैं, का विकास अपने आप हो रहा है। इसी लिए संपर्क भाषा के प्रश्न पर बुद्धिजीवीयों को व्याकुल नहीं होना चाहिए।

संपर्क भाषा का प्रश्न जहाँ मूलतः राष्ट्र के जन-जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से जुड़ा है वहाँ राजभाषा का प्रश्न जन-जीवन और सरकार के बीच संपर्क भाषा का प्रश्न है। यह प्रश्न कहीं ज़्यादा उलझा हुआ है। जन-जीवन के विकास से राजभाषा का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों तरह का गहरा सम्बन्ध है। गाँधी जी राजकाल की भाषा के रूप में अंग्रेजी के सख्त

खिलाफ थे क्योंकि वह शासन को आम आदमी की समस्याओं से दूर लेजाते हैं। राजकाज की भाषा अंग्रेजी होने पर आम आदमी को प्रशासन में अपनी भागीदारी के लिए अनावश्यक और अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। अंग्रेजी का वर्चस्व प्रकारान्तर से बहुत थोड़े अंग्रेजीदां लोगों और देश के नागरिकों के बीच की खाई को बढ़ा रहा है। उच्चता की भावना जब अंग्रेजी समझने — बोलने से जुड़ जाती है तो जो अंग्रेजी जानते हैं वह उसकी वकालत करने लगते हैं और जो चाह कर भी अंग्रेजी अपनी परिस्थितियों के कारण नहीं सीख पाते वे उसके घोर विरोधी बन जाते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गाँधी जी का विरोध अंग्रेजी से नहीं था बल्कि हिन्दुस्तान में राजभाषा आदि के रूपों में अंग्रेजी के वर्चस्व से था। आज राजभाषा के रूप में हिन्दी को संवैधानिक स्वीकृति मिली हुई है किन्तु अंग्रेजी का वर्चस्व फिर भी कायम है। अंग्रेजी के ऐसे वर्चस्व से विरोध सिर्फ हिन्दी भाषियों का नहीं है बल्कि समूचे हिन्दुस्तान का है, सभी भारतीय भाषाओं का है। कुछ अंग्रेजीदां लोगों को तबका इस बात को समझता है। इसी लिए अंग्रेजी के बचाव के लिए वह हिन्दी बनाम उर्दू, कन्नड बनाम तमिल, मलयालम बनाम तमिल जैसी समस्याएं पैदा कर रहा है और उन्हें बढ़ावा दे रहा है जिससे कि हिन्दुस्तान की आम जनता इन सवालों में उलझ जाय और अंग्रेजी का वर्चस्व अनंतकाल के लिए निर्बाध रहे। जहाँ तक राजभाषा के रूप में हिन्दी का प्रश्न है वहाँ मैंने पूरे देश का अनेक बार भ्रमण किया है और पाया है कि कहीं भी हिन्दी का विरोध आम जनता नहीं कर रही है, बल्कि कुछ पढ़े-लिखे लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों के कारण कर रहे हैं। दक्षिण के किसी देहात का कोई किसान या मजदूर इस झगड़े में शामिल नहीं है बल्कि सुविधाप्रिय पढ़े-लिखे स्वार्थी मध्यम वर्ग के लोग शामिल हैं।

अब आइए लोकतंत्र और राजभाषा के प्रश्न पर। सिलसिले में ज्यादातर समस्याएं पढ़े-लिखे हिन्दी भाषा लोगों ने पैदा की है जो राजभाषा का अर्थ नहीं जानते, उसकी धारणा को नहीं समझते और उसे जुड़ी हुई भावनाओं से अपरिचित है। संपर्कभाषा और राजभाषा की समस्याएँ व्यावहारिक है, भौतिक हैं। राजभाषा का प्रश्न किसी भौतिक या व्यावहारिक समस्या जे जुड़ा हुआ है ही नहीं। यह प्रश्न समूचे राष्ट्र की आत्मा से जुड़ा है। संपर्कभाषा अपने आप विकसित हो सकती है और राजभाषा का दर्जा किसी भाषा को दिया जाता है। राजभाषा का सम्मान किसी भाषा को किसी वर्ग द्वारा

दिया नहीं जाता बल्कि उसे समूचे राष्ट्र द्वारा मिलता है। हिन्दी को राजभाषा किसी एक प्रदेश ने, जाति ने, सम्प्रदाय ने या वर्ग ने बनाया नहीं है। उसे यह गौरव समूचे राष्ट्र ने दिया है जिसमें पहल अहिन्दी भाषियों ने ही की है। राजभाषा का अर्थ एक ऐसी भाषा है जिसे सारा राष्ट्र अपनाये। हिन्दी को सारे राष्ट्र ने अपनाया है। हिन्दी के राजभाषा होने पर तो कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है लेकिन हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने पर किसी के द्वारा आपत्ति किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

हिन्दी के सबसे प्रबल समर्थक गाँधी जी थे। और अंग्रेजी के सबसे प्रबल विरोधी भी वही थे। इस सिलसिले में उन्होंने स्पष्ट कहा था कि झगड़ा उर्दू से नहीं अंग्रेजी से है। हिन्दी से उनका मतलब ऐसी भाषा से था "जिसे उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों बोलते हैं और जो नागरी तथा उर्दू लिपियों में लिखी जाती है।" (गाँधी हिन्दी दर्शन, पृष्ठ ४७) उन्हीं के शब्दों में "मेरा झगड़ा तो अंग्रेजी के विरुद्ध है। मुझे द्वेष उससे भी कोई नहीं है, परन्तु अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हम अपनी जनता से धुलमिल नहीं सकते और उसके साथ एकरस होकर काम नहीं कर सकते" (गाँधी हिन्दी दर्शन, पृ० ४८) अंग्रेजी बोलना गाँधी जी को पाप लगता था। उनका आग्रह था कि हम अंग्रेजों से भी अंग्रेजी में बात न करें। इन सब के पीछे यही भावना थी कि हिन्दी हमारी राष्ट्रीय परंपराओं का और राष्ट्र के गौरव का राष्ट्र के हित में प्रतिनिधित्व कर सके। आजादी के बाद राष्ट्र भाषा के प्रश्न को लेकर विशेष कर हिन्दी भाषाओं ने अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को पूरा करने के प्रयास शुरू कर दिये जिनसे दक्षिण भारत के कुछ लोगों में हिन्दी के प्रति अविश्वास प्रारम्भ हो गया। उन्हें लगा कि हिन्दी उनपर थोपी जा रही है। हकीकत ये है कि हम राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के विकास की बातें तो बढ़-चढ़ कर करते हैं उसे क्षेत्रीयवाद की जंजीरों से मुक्त नहीं करते। जबतक हिन्दी भाषी ये नहीं समझेंगे कि हिन्दी सिर्फ उनकी ही नहीं बल्कि समग्र राष्ट्र की भाषा है तबतक राष्ट्र भाषा के रूप में उसका विकास अधूरा ही रहेगा। यह गलत है कि हम अन्य भाषाओं को तो उदार बनने की राय देते रहे और स्वयं अनुदारतापूर्ण रवैया अख्तायार करें।

हमारे राष्ट्र की आत्मा हमारे राष्ट्र की भाषा में ही व्यक्त हो सकती है। अंग्रेजी हमारे लिए विदेशी भाषा है। उसमें ज्ञान का संप्रेषण तो सम्भव है किन्तु आत्मा का आत्मा से संवाद संभव नहीं है। यह संवाद केवल हिन्दी के

माध्यम से सम्भव है और ऐसा संवाद राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए अनिवार्य है। राष्ट्रीय एकता की राह में सबसे बड़ी बाधा पढ़े लिखे लोगों की वह मानसिक गुलामी है जिससे आज़ाद हिन्दुस्तान में भी अंग्रेज़ी का वर्चस्व बना हुआ है।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के विकास के लिए यह भी आवश्यक है हिन्दी भाषी लोग दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिए व्यय न करें। इससे दक्षिण में इस भावना को बल मिलता है कि इसमें हिन्दी भाषाओं का कोई स्वार्थ है। इसी लिए महात्मा गाँधी चाहते थे कि दक्षिण भारत में वहीं के निवासी हिन्दी का प्रचार करें और उसका व्यय स्वयं उठाएँ।

लोक तांत्रिक व्यवस्था में लोकभावनाओं का ध्यान रखना अनिवार्य है और आज़ादी से पहले तथा आज़ादी के बाद भी लोकभावना हिन्दी के पक्ष में रही है। आनुपातिक दृष्टि से गिने-चुने लोगों की स्वार्थरता के कारण यदि हिन्दी का विरोध हो भी रहा है तो उसकी उपेक्षा की जानी चाहिए।

हिन्दी प्रेमियों और हिन्दी लेखकों का चाहे वह उत्तर के हों या दक्षिण के सबसे बड़ा दायित्व यह है कि क्षेत्रीय संस्कृति के स्थान पर राष्ट्रीय संस्कृति की वाहिका के रूप में हिन्दी का विकास करें और उसे इतना समर्थ बनाएं कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का भी वहन करने में सक्षम हों। जहाँ तक हिन्दी की अभिव्यक्ति क्षमता के विकास का प्रश्न है इसमें शासन भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। निदेशालयों, आयोगों और अनुदानों के माध्यम से हिन्दी के विकास से प्रयास किये जा रहे हैं। इतना होने पर भी मूल उत्तरदायित्व जन-जीवन का है। राष्ट्रभाषा का विकास सम्पूर्ण राष्ट्र का दायित्व है और उसे हिन्दी भाषियों को सिर्फ अपना दायित्व नहीं समझना चाहिए।

जहाँ तक लिपि का प्रश्न है देवनागरी लिपि सभी भारतीय भाषाओं की लिपि बन सकने में समर्थ है। सभी भारतीय भाषाओं के लिए रोमन लिपि का दुराग्रह मानसिक दासता का प्रतीक है। भारतीयों के अंग्रेज़ी समझने में रोमन लिपि के कारण भी कठिनाई हुई है। यदि अंग्रेज़ी एवं कुछ अन्य विदेशी भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि को स्वीकार कर लिया जाये तो भारतीयों के लिए विदेशी भाषाओं का ज्ञान भी सहज लभ्य हो सकता है।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि अन्य भारतीय भाषाएं उपेक्षित हो जायेंगी। सभी भारतीय भाषाओं की उपेक्षा अंग्रेज़ी

के कारण हो रही है। हिन्दी के राष्ट्रीय भाषा होने से तो विभिन्न प्रदेशों में अवाम के बीच संवाद जिससे अवाम का मानसिक स्तर उँचा उठेगा ओर जिससे फलस्वरूप प्रादेशिक भाषाओं के विकास का पथ निर्विघ्न हो जायेगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के लिए आज़ाद हिन्दुस्तान में जो प्रयास हिन्दी भाषी, प्रान्तों की ओर से किये गये उनमें लोकतंत्र की मूल प्रकृति का अपेक्षित ध्यान नहीं रखा गया। आज़ादी की लड़ाई के दौरान यह विचार था कि राष्ट्रभाषा का राष्ट्रहित में प्रचार-प्रसार होना चाहिए। आज़ादी के बाद हिन्दी भाषी प्रदेशों में यह विचार प्रवल रहा कि अपनी भाषा को राष्ट्र बनाना है। यह विचार लोकतांत्रिक भावनाओं के प्रतिकूल है और इसीलिए दक्षिण के कुछ क्षेत्रों में विरोध का विषय रहा। हमारे लोकतंत्र में राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार और विकास का विरोध कहीं नहीं है अपनी भाषा के प्रचार-प्रसार का विरोध हो रहा है और होता रहेगा। कहना यह है कि राष्ट्रभाषा के विकास की लोकतांत्रिक पद्धतियों को अपनाया जाना चाहिए। गाँधी जी ने लोकतांत्रिक पद्धतियों को अपनाया और सफल रहे। हम उन पद्धतियों पर अपेक्षित ध्यान नहीं दे रहे हैं। हम अपना कर्तव्य नहीं समझ रहे हैं। दूसरों को उनका कर्तव्य सिखाने की कोशिश कर रहे हैं।

हम अपनी लोकतांत्रिक व्यवस्था में राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास के प्रति आश्वस्त रह सकते हैं। लोकतंत्र हिन्दी के विकास में बाधक नहीं है, साधक है। आज सबसे बड़ी जरूरत इस बात की है कि हम हिन्दी के लिए किये जा रहे प्रयासों को लोकतंत्र में अपनी अटूट आस्था को बनाये रख कर उसकी मूल प्रवृत्ति के अनुकूल आचरण करें। हम हिन्दी की सेवा के नाम पर उसके स्वामी न बनें, उसके विकास के लिए कोरी नारेबाज़ी छोड़कर गम्भीर प्रयास करें। उसे अपनी ही भाषा न समझें, पूरे राष्ट्र की भाषा समझें—राष्ट्रभाषा समझें।

- 2/537, हिन्दी विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़-202002



महान् संस्कृतिवेत्ताः रवीन्द्रनाथ टैगोर

● डा. हरमहेन्द्र सिंह वेदी
डी.लिट.

भारतीय दर्शन एक वह अमृत नदी है जिसकी अनेक पुनीत विचारधाराएं भारत भू पर प्रवाहित हो रही है जिनमें अवगाहन कर मानव जन्म जन्मांतरों के कालुष्य से मुक्त होकर परम कैवल्य को प्राप्त करता है^१। किन्तु विदेशियों के भारत में आगमन पर भारत को दार्शनिक चिन्तन-धारा मंद पड़ गई। विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव से भारतीय समाज छिन्न-भिन्न हो गया कि उसे चिन्तन का अवसर हो नहीं मिलता था। ऐसे संक्रमण काल में भारत के पुनरुत्थान व पुनर्जागरण की आवश्यकता थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में पुनः पुररुत्थान की प्रवृत्ति जागृत हुई जिससे भारतीय पुनः चिन्तन की ओर सजग हुए। इस युग के विचारकों में राजा राम मोहन राय, विवेकानन्द, अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी, राधा कृष्ण और रवीन्द्र नाथ टैगोर प्रमुख हैं।

भारतीय चिन्तकों में राजा राम मोहन राय का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़ कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है^२। उन्होंने मूर्ति पूजा, पशु बलि, बहुदेववाद, सती प्रथा जैसे रिवाजों का खण्डन किया। वे एकेश्वरवादी थे और उनका सबसे बड़ा योगदान ब्रह्म समाज की स्थापना थी, जिसका उद्देश्य धार्मिक सामाजिक सुधार आन्दोलनों का केन्द्रीकृत रूप से पथ-प्रदर्शन करना था।

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक युग के दर्शन एवं धर्म के क्षेत्र में तर्कनावादी पद्धति के अग्रदूत थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक एवम् बुद्धि-गम्य बनाने का प्रयास किया।

अरविन्द घोष ने सार्वभौम वेदान्त विधा का सर्वोच्च शाक्त स्वरूप लेकर दुनिया के सामने ध्यानयोग, राजयोग और पूर्णयोग विशद किया और स्वदेशी तथा विदेशी भक्तों को एकत्र लाकर विश्व संस्कृति की मजबूत नींव डीली।

आधुनिक युग के विचारकों में महात्मा गाँधी का नाम विशेष आदर

१- पारसनाथ द्विवेदी, भारतीय दर्शन (आगरा श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, १३७३) पृ०-६

२- रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के बार बध्याय (गटना उदयाचल आर्य कुमार रोड १६६२) पृ० ५४५

से लिया जाता है। जिन्होंने भारतीय दर्शनों के मूल तत्त्वों को समझ कर उन्हीं तत्त्वों की भूमि पर अपने दर्शन की नींव डाली। उन्होंने ईश्वर का एकमात्र परम-तत्त्व मानते हुए अहिंसा पर बल दिया और माना कि अहिंसा मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है और इसी से सत्य का ईश्वर का, मनुष्य साक्षात्कार करता है^१।

राधा कृष्ण ने भारतीय दर्शन का पूरा इतिहास अपनी रोचक शैली में पूरे संसार में दिया। उन्होंने पूर्व और पश्चिम दोनों से सच्चे हृदय से यह याद रखने का आग्रह करते हैं कि पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक धर्म और दर्शन दोनों का सामान्य दायित्व उन मूल्यों की रक्षा है जो मानव जाति की एक ही सम्यता से संयुक्त करने की आशा दिलाते हैं।

रवीन्द्रनाथ टैगोर में अन्याय भारतीय परम्परा का जीवन चिन्तन और कथन का रसायन मिलता है। रवीन्द्र नाथ की सिद्धि इसी में है कि उनकी रचनाओं में भारत का विशाल चित और उदार हृदय व्यक्त होता है। संक्षेप में उनके जीवन—दर्शन और चिन्तन धारा का अध्यान हम आगे करेंगे।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जिस वंश में उत्पन्न हुए थे वह बहुत ही सुसम्पन्न, सुसंस्कृत और विद्या व्यसनी था। ऐसे विधानुरागी एवम् धर्मात्मा वंश उत्पन्न होने वाली सन्तान का अपने पूर्वजों की विद्या, बुद्धि, कला—कौशल एवम् धर्म—दर्शन का प्रभाव पड़ना बहुत ही स्वाभाविक था^२।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर धौनिष्ठ एवम् तपःपूत श्रेष्ठेय देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सुपुत्र तथा माँ शारदा देवी के गोद को शोभा थे। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ को उपनिषद् पुत्र कहा जाता है।

रवीन्द्रनाथ की प्रारम्भिक का व्यधारा वैष्णव कवियों को मावधारा से अनुप्रणित हुई। इसके उपरान्त उनकी प्रवृत्ति स्वच्छन्द साहित्य, सृष्टि की ओर उन्मुख हुई। तदुपरान्त राष्ट्रीय जागृति से उपबुद्ध होकर वे भारतीय संस्कृति के विविध रूपों का चित्रण करने लगे। टैगोर के साहित्य की क्रमशः यही विकास प्रवृत्तियाँ हैं और इन्हीं के अन्तर्गत जन-गण मन अधिनायक का काव्योत्कर्ष भारत को आध्यात्मिक संस्कृति को विश्वोन्मुख करता है।

उपनिषदों का अध्यात्म—वैष्णव काव्य एवम् दर्शन को रसात्मकता बाउल एवम् कबीर का मानवतावादी रहस्य, ईसाई सन्तों का सर्वात्मवाद एवम् वर्तमान विज्ञान प्रभृति रवीन्द्र काव्य की पृष्ठभूमियाँ हैं। युग द्रष्टा राजा राम

१— लक्ष्मी सक्सेना, 'समकालीन भारतीय दर्शन' (लेखन उ: उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी) पृ. १०४

२— अवध प्रसाद वाजपेयी, 'टैगोर और निराला' (कानपुर: अनुसन्धान प्रकाशन, १९६५) पृ. १०

मोहन राय, पं० ईश्वर चंद्र विद्यासागर, कंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, माइकेल, मधुसूदन-दत्त हेमचन्द्र बन्धोपाध्याय तथा नवीन सेन आदि महापुरुषों का व्यक्तित्व का प्रभाव रवीन्द्र के जीवन पर गहरा पड़ा।

आधुनिक चिन्तन के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर सर्वोच्च सामंजस्यकर्ता, समन्वयकारी और शान्ति स्थापक हैं। नरवणे के अनुसार, टैगोर का लक्ष्य प्रत्येक धार्मिक और दार्शनिक परम्परा के श्रेष्ठतम तत्वों का समन्वय, परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों की उग्रता की मृदु करके उनके बीच सृजानात्मक मध्यम मार्ग की स्थापना, दूरस्थ छोरों के बीच मध्य स्थल। इस लक्ष्य का वे सृजक और संगत रूप में निरन्तर पालन करते रहे^१।

रवीन्द्रनाथ समन्यवादी हैं अतः उन्होंने परमतत्त्व को सुगुण या निर्गुण इन दो रूपों में न देखकर अनन्त का लक्षण इस प्रकार किया, अन्त का गुण परिमाण का विस्तार नहीं वह इसके अद्वैत में है वो एकता का रहस्य है^२। टैगोर के अनुसार ईश्वर एक वैयक्तिक सत्ता है अतः आत्मा को मानना भी निहित है। आत्मा स्वतन्त्र है तथा ब्रह्म समान है। रवीन्द्र ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जब तक बीज धरती पर रहता है, वह एक रहता है यह उसकी संधर्ष विहिन शान्तावस्था है किन्तु ज्योंहि अंकुरण होता है, अनेकता फूट पड़ती है, जीवन प्रारम्भ हो जाता है^३। इस प्रकार ईश्वर में आत्मा वसीम है और व्यक्ति में ससीम।

टैगोर ने ससीम जगत को असंदिग्ध रूप में सत्य माना है। असीम जगत ईश्वर रूप है तथा जगत और जीव में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध होना चाहिए। रवीन्द्र ने स्पष्ट किया कि बिना जगत के ईश्वर मात्र कल्पना होगा, बिना ईश्वर जगत् अव्यस्थित रहेगा^४। रवीन्द्र ने 'माया' शब्द का प्रयोग 'अविधा' में अर्थ में किया है। उनके अनुसार माया 'सत्' और 'असत्' दोनों है।

टैगोर सत्ता, सत्य और ईश्वर तक की परिभाषा मानवता को दृष्टि से करते हैं। उनके अनुसार यदि ईश्वर सत्य है तो वह अवश्य मानवीय होगा। यहाँ तक कि टैगोर का कथन है कि मेरा धर्म मानव धर्म है जो असीम मानवता में परिमाणित होता है^५। उन्होंने 'शुभ' का सम्बन्ध मानवता के

१-- बी. एल. एस. नरवणे, आधुनिक भारतीय चिन्तन (दिल्ली-राजकमल प्रकाशन १९६६), पृ० १३५-१३६

२-- रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्रिएटिव ग्युनिटी (कलकत्ता-मैकमिलन एण्ड कम्पनी १९७१), पृ० ११५-११६.

३-- लक्ष्मी सक्सेना, समकालीन भारतीय दर्शन (लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी) पृ० १२५

४-- बी. एस. नरवणे, गाडन ईश्वरन गाट (मुद्रास-एशिया पब्लिशिंग हाउस १९६७), पृ० १२६

५-- रवीन्द्रनाथ टैगोर दि रिलिजन ऑफ मैन (कलकत्ता-मैकमिलन एण्ड कम्पनी) पृ० २६

आनन्द से और 'अशुभ' का सम्बन्ध सेसार की अपूर्णता से माना है। रवीन्द्र ने अपनी चिन्तन-धारा में कहीं भी वैराग्यवाद को नहीं स्वीकार किया है। रवीन्द्रनाथ के तो वैराग्य या मुक्ति को पलायनवाद कहते हैं और संसार से पलायन करने से ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं।

रवीन्द्रनाथ राजनितिज्ञ नहीं थे। वे दूसरों के जीवन पर शासन करना पसन्द नहीं करते थे, चाहे भलाई के लिए चाहे बुराई के लिए, पर उन की निर्मल दृष्टि निरन्तर मानव भविष्य पर लगी हुई थी और उन परम सिद्धान्तों की उन्होंने अचूक झलक पा ली थी जिनका परित्याग करने पर व्यक्ति और राष्ट्रों का समूल विनाश हो सकता है। सत्ता मूलक राजनिति की विडम्बना को उन्होंने एक सूत्र में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है, सत्ता की फूहड़ता चावी को तो खराब कर देती है और फिर कुल्हाड़ी से ताला खोलना चाहती है^①।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने राजनीति में प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया। एक दृष्टि से उनकी राजनिति उग्र स्वरूप की थी। कालेलकर के कथनानुसार, "बंग-भंग के आन्दोलन में उन्होंने पूरे दिल से प्रमुख भाग लिया था और बड़े जोश और खरोश से भाग लिया था^②। देश के राजनैतिक विचारों के यथार्थ मोड़ देने में उनका हिस्सा कम नहीं है 'स्वदेश', 'समूह', 'राजा और पूजा', आदि निबन्धों में उन्होंने अपनी कवित्तवपूर्ण वाणी में दिखा दिया है कि राजनीति किस तरह की होनी चाहिए और राष्ट्रीय आन्दोलन में आर्य संस्कृति का प्रण किस प्रकार संचरने वाला है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर आधुनिक भारतीय संस्कृति के मन्त्रद्रष्टा कृषि माने जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने समक की प्रगतिशीलता को देख कर भारतीय संस्कृति में राष्ट्रीय भावना का बड़ी ही विदग्धता से समावेश किया था। उन्होंने राष्ट्रीय भावना को जन-मन के हृदय प्रदेश में प्रतिष्ठित करके जन-गण मन के अधिनायकतत्व में समत्व का योग किया।

रवीन्द्रनाथ आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ अन्तराष्ट्रीयवादी व्यक्तियों में थे तथा वे मानते थे कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का निर्माण करने का स्वयं अधिकार है पर साथ ही वह यह भी मानते थे कि राष्ट्रीय दावे कहीं हमारे मानवीय दायित्व पर हावी न होने पायें। रवीन्द्रनाथ इस बात को मानकर चले कि हम अपने देश के आदर्शों के प्रति प्रेम और श्रद्धा तो रखे ही, दूसरे देशों

① - कृष्ण कृपालनी, रवीन्द्र नाथ एक जीवनी (आगरा: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, १९६८) भुमिका, ११

② - काका साहब कालेलकर, युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ (अजमेर: जय कृष्ण अग्रवाल १९६२) पृ. २१

के प्रति आदर्शा और परम्पराओं के प्रति श्रद्धा मानवता के विरुद्ध अपराध है यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रीय गीत का आरम्भ विश्व जन-मन के अधिनायक के आवाहन से करते हैं और जीवन के इस चिरासारथी की महिमा का गुण गान करते हैं जो मानव यात्री को इतिहास के पतन और अम्युदय के पथों से होकर निरन्तर परिचालित करता चला आता है। अतः भारत का राष्ट्रीय गीत रवीन्द्रनाथ टैगोर के इस आदर्श को प्रति बिम्बित करता है जिसमें उन्होंने अपने स्वप्न के संसार की परिकल्पना की है। उनका यह गीत समस्त मानव जाति के लिए है, जिसमें विश्व मानवता की और संसार की प्रगति पर रवीन्द्रनाथ के विश्वास का स्वर ध्वनित हुआ है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर राष्ट्रीय भावना को विश्व-मैत्री की ओर उन्मुख करते हैं जिससे उनकी राष्ट्रीय भावना विश्व बन्धुत्व का मार्ग प्रदर्शित करती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर को इस धरती से इतना प्यार था कि उससे विमुख होने की बात सोच भी नहीं सकते थे किन्तु उनकी यह देश भक्ति संकीर्ण राष्ट्रवाद को सीमाओं में नहीं जकड़ी थी। शान्ति, विश्वबन्धुत्व, विश्व मैत्री, स्वतन्त्रता के उदात्त आदर्श उनकी समस्त रचनाओं में व्याप्त है। भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर स्थित टैगोर की यह राष्ट्रीय भावना कितनी विराट व आत्म गौरव से परिपूर्ण है। भारतीय तीर्थ की वास्तविक राष्ट्रीय भावना का उन्मेष करने वाले रवीन्द्र ही हैं। और इस कवि कौविंद की सरस्वती से भारत की संस्कृति और राष्ट्रीय भावना देश और विदेश में परब्रह्म की विराट शक्ति की तरह परिव्याप्त हो रही है।

सन् १८६१ में जब रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ तो भारतवर्ष गुलामी की वेड़ियों में जकड़ा हुआ था। विदेशी व्यापारी शासक के रूप में भारत में जम चुके थे और ब्रिटिश रानी को भारत की सम्राज्ञी घोषित किया जा चुका था। अतः अठारहवीं शताब्दी का काल कुशासन और गृह युद्धों का अन्ध युग था। उस समय देश एक ऐसे जंगल के समान था, जिसमें देशी और विदेशी हिंस्र जन्तु व मनमाने रूप में विचरते और रक्तपात करते रहते थे।

भारत की नियति के रूपायन में जिन व्यक्तियों ने शक्तियों को रचनात्मक बनाया उनमें दो अग्रगण्य हैं।.....गाँधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर। गाँधी का योगदान इनता प्रत्यक्ष है कि कथन की अपेक्षा ही नहीं रखता, पर रवीन्द्रनाथ का योगदान अधिक सूक्ष्म और गहरा था क्योंकि उन्होंने उन क्षेत्रों में रचनात्मक कर्म में छिपे हुए स्रोतों को मुक्त और पुष्ट किया था जिन का उपयोग करने में राजनीतिज्ञ असमर्थ होता है।

रवीन्द्रनाथ भारतीय स्वाधीनता के लिए जुझने वालों में अपने ढंग के अकेले ही महापुरुष थे। उन्होंने यह माना कि केवल अंग्रेजों की निन्दा करने से हम स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकते, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें मनुष्य के वास्तविक गुणों को अपनाना होगा और आत्म-निर्भर बनना होगा। राजनीतिक क्षेत्रों में भी रवीन्द्रनाथ भारत और पश्चिम दोनों के सर्वोत्तम तत्वों के बीच समांजस्य और समन्वय चाहते थे। यात्रा के पूर्व 'शीर्षक निबन्ध' में टैगोर की उस श्रद्धा भावना का स्पष्ट परिचय मिलता है।

रवीन्द्रनाथ बराबर इस बात पर जोर देते हैं कि भारतीयों की स्वयं राष्ट्र निर्माण सेवाओं का संगठन करना चाहिए और सदा शासक वर्ग का मुँह ताकते न रहना चाहिए। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में व्यक्ति के दायित्व को महत्व प्रदान करने के उद्देश्य से स्वशासन के सिद्धान्तों को विस्तार दे दिया था। 'स्वदेशी समाज' के प्रकाशन के पहले ही उन्होंने धोषित किया कि हमारी राजनीतिक पराधीनता हमारी अपनी ही दुर्बलता का लक्षण मात्र है। रवीन्द्रनाथ का कहना था कि जनता को यदि उनकी भाषाओं में समझाया जा सके तो वह बड़े उत्साह से योग देंगे।

इस दृष्टि से राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्रों में वे मार्ग प्रवर्तक थे। भारत में सबसे पहले उन्होंने शिक्षा के वे सिद्धान्त निर्धारित और नियोजित किये, जो आज शिक्षा शास्त्र में सर्वमान्य हो चुके हैं। टैगोर ने गाँधी जी द्वारा कुटीर उधोगों के माध्यम से शिक्षण की योजना अपनायी। वह शान्ति निकेतन के अपने विद्यालय में यह पद्धति कार्यान्वित कर चुके थे।

रवीन्द्रनाथ ने अपने देशवासियों को अपनी परम्परा को प्यार करना और उस पर गर्व करना सिखाया। स्वदेश के सम्बन्ध के सम्बन्ध में रवीन्द्र ने अनेक कविताओं का रचना की, 'वन लक्ष्मी', 'मातार बाह्वान', 'हिमालय' 'शान्ति यात्रा संगीत', 'प्रार्थना', शिला लिपि' 'भारत लक्ष्मी', 'रे आमार जननी रे', 'नव वर्णर' गान आदि कितनी ही कविताएं महाकवि ने देश भक्ति के उच्छ्वास में आकर लिखी हैं। रवीन्द्रनाथ की देश भक्ति उनके जिस नितान्त सुन्दर गीत में व्यक्त हुई है, वह गीत है..... अइ भुवनमनी मोहिनी' इस गीत में राष्ट्रीयता है, राष्ट्र भक्ति है और मानव कल्याण की शुभाशंसा भी है।

धार्मिक और शैक्षिक क्षेत्रों में उनके विचारों की देन के अतिरिक्त राजनीतिक, समाज सुधार, नैतिक-उत्तथान और आर्थिक पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में भी उन्होंने अनेक गम्भीर और प्रभावशाली निबन्ध लिखे। इन सब क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियाँ इतनी बड़ी हैं कि वे उन्हें भारत के श्रेष्ठ पुत्र रत्न के रूप

में आगे खड़ा करती है। ऐसे व्यक्ति के रूप में भी जिनके पास समग्र जाति की देने के लिए महत्वपूर्ण सन्देश है। उन्हीं के प्रयत्नों से भारत की काया पलटी और राजनीतिक रूप में वह ऐसी क्रान्ति के द्वारा पर खड़ा करती है जो उसके इतिहास में अभूतपूर्व थी। सांस्कृतिक रूप में वह अपना खोया आत्मभिमान प्राप्त कर चुका था और आध्यात्मिक रूप में वह सर्जनात्मक जीवन के लुप्त स्रोतों का अनुसंधान कर रहा था।

अतः रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सच्चे भारत का उद्घाटन कर पश्चिम को चमत्कृत कर दिया जो शीघ्र ही अपने बन्धनों की श्रृंखलाओं से ही विजय के अरत्र शस्त्र गढ़ने वाला था^१।

रवीन्द्रनाथ के सामंजस्यवाद का पूर्ण विश्वास उनके सौन्दर्यशास्त्र में हुआ है जिससे नरवर्णों ने उनके रामस्तचिन्तन भवन के शिखर का पत्थर माना है^२। टैगोर के अनुसार, 'सृजन पूर्णता के अनन्त आदर्श और उसके साक्षात्कार के शाश्वत का सतत सामंजस्य है'^३।

सामंजस्य को आवश्यकता और कहीं इतनी प्रवल नहीं अनुभव होती जितनी कला के क्षेत्र में। टैगोर मानते हैं कि इस विषय में प्राचीनों का दृष्टिकोण अधिक सौम्य और संयत था।

टैगोर के अनुसार कला का आदर्श है..... 'तन्मष्ट यन्नदीयते' अर्थात् जो कुछ दिया नहीं जाता वह नष्ट हो जाता है। उनके लिए सच्ची कला कृति दैक के समान है जिसमें भावानुभूति जमा की जाती है। सामंजस्यपूर्ण सम्मेषण ही कला है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर काव्य में भी सामंजस्य को महत्व देते हैं। काव्य का मुख्य तत्त्व शब्द है। शब्दों में सुन्तुलन और अनुपात होना चाहिए और इसे छन्द कहा जाता है।

वर्गसों को भाति टैगोर कला को अज्ञात और अप्रत्यक्षित मानते हैं। उनमें अनुसार कलाकार का जिस सत्ता से साक्षात्कार होता है उसका वह निरन्तर रूपान्तरण करता है और इस प्रक्रिया में अपना भी पुनर्निर्माण करता है। कला में मनुष्य अपनी ससीमता के उपर उठने का, अपनी कल्पना इशारों पर चलने का साहस करता है।

१- कृष्ण कृपालानी, रवीन्द्रनाथ एक जायनी (आगेश शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, १९६८) पृ. १२

२- गी. एस. नरवर्णे, 'आधुनिक भारतीय चिन्तन' (दिल्ली: राजकमल प्रकाशन १९६६), पृ. १६३

३- रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्रिएटिव यूनिटी, पृ. १५

सीमाओं में रहकर मुझे आनन्द मिलता था

पर जब मैं असीम में उड़ने लगा तो मुझे मेरे गीत मिल गए^१।

रवीन्द्रनाथ कला के क्षेत्रों में वृद्धि के क्लिष्ट नियमन के विरोधी है। उनके लिए कला बुद्धि से परे होते हुए भी पूर्ण रूपेण है। टैगोर के सौन्दर्य शास्त्र का और उनके समस्त दर्शन का महान् चरम रूप उनकी सुन्दर कविता 'दुह्नारी' में मिलता है। इसमें एकता में अनेकता के नियम का गम्भीर और कल्पानाशील संदीप है। कला और चिन्तन में जो कुछ प्राणवान है उसका समीकरण है.....

सृष्टि के समुद्र मंथन के किसी क्षण

जलतली शैया छोड़ कर

दो नारियाँ उपर आई थीं

एक थी उवर्षी, सुन्दरी विश्व के कामना राज्य की नारी

स्वर्ग की अप्सरा।

दूसरी थी लक्ष्मी, कल्याणी, विश्व-जननी, स्वर्ग की स्वामिनी^२।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की साहित्यिक कृतियाँ महत्वपूर्ण थीं। टैगोर की रचनाओं ने संसार के मूर्धन्य विचारों को इतना प्रभावित किया था कि उसके शक्तिशाली शक्तियों का यह प्रचार अपने आप खण्डित हो गया कि भारतीय जनता पिछड़ी हुई, अर्द्धसभ्य अवस्था में है। इसलिए उसे किसी सभ्य जाति का सहारा अत्यन्त आवश्यक है।

टैगोर की साहित्यिक कृतियों से नयी प्रेरणा और नया सन्देश मिलता था। उनका साहित्य समाज, नैतिक उत्थान और आर्थिक पुनर्निर्माण से सम्बन्धित है। इन सब क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियाँ इतनी बड़ी हैं कि वे उन्हें भारत के श्रेष्ठ पुत्र रत्न के रूप में आगे खड़ा करती हैं। वे विधाता के भेजे हुए परिपूर्ण गनुष्य थे व सच्चे अर्थों में 'गुरु' थे^३।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ बंगला साहित्य के एक व्यक्ति नहीं, बल्कि युग हैं। वे अपने प्रतिभा की विपुलता, विविधता और भास्वरता के द्वारा एक शताब्दी की दो तिहाई से बंगला साहित्य के आकाश में जाज्वल्यमान रहे। वह एक साथ कवि, कलाकार, दार्शनिक, नाट्यकार, उपन्यासकार, मानवतावादी शिक्षा शास्त्री तथा स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक थे। समकालीन चिन्तकों में

१- उद्धृत: वी. एस. नरयण, आधुनिक भारतीय चिन्तन (दिल्ली: राजमहल प्रकाशन १९६६)

२- उद्धृत: वी. एस. एस. नरयण, वही, पृ० १७६

३- हाजारी प्रसाद आशुतोष (मई दिल्ली: राजमहल प्रकाशन, १९८१), पृ० २७१.

शायद ही किसी अन्य चिन्तक से साहित्य की विभिन्न विधाओं का इतना प्रभावित किया हो जितना रवीन्द्रनाथ टैगोर ने।

वी. एस. नरवणों के अनुसार, 'साहित्य को कोई भी विधा उनसे अछूती नहीं रही इसलिए वे समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य बाँध के जनक अथवा नवीन युग के आदि कवि कहे गये^१।

रवीन्द्र संसार के अत्यम श्रेष्ठ कवि हैं। मे 'सन्ध्या-संगीत', 'कटिओं कोमल', 'मानसी', 'बलाका', 'चित्र' क्षणिका', 'गीतांजली' आदि अनेक श्रेष्ठ व उत्त्लेखनीय काव्य ग्रन्थ हैं। अंग्रेजों गीतांजलि पर उन्होंने नोबल पुरस्कार भी मिला था। रवीन्द्रनाथ ने लगभग दो हजार गीतों की रचना की है।

कविता और गीतों के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'वाल्मीकी प्रतिभा', 'मायार खेला', 'राजा और रानी', 'चित्रांगदा', 'रक्तकरवी', 'नटीर पूजा' आदि गीति नाट्य और सांकेतिक नाटकों की भी रचना की है। बंगला नाटक में रवीन्द्रनाथ टैगोर के हाथों एक नया मोड़ ग्रहण किया। उन्होंने मानव जीवन के अन्तराल का दर्शन किया और एक रहस्य के पर्दे के पीछे के सत्य को पकड़ खुले जगत के मूर्त अस्तित्व में प्रवेश पाकर उसे यथार्थ सौन्दर्य, यौवन और प्रेम के जीवन देवता के रूप में उद्घाटित किया। काव्य, स्वर, नाट्य तथा नृत्य के चतुरंग प्रवाह से युक्त इन नाटकों में रवीन्द्रनाथ टैगोर की शिल्प कला तथा ब्रह्मुखी प्रतिमा का प्रकाशन हुआ है।

रवीन्द्रनाथ ने आधुनिक बंगला साहित्य में छोटी कहानी की सृष्टि करके एक नवीन तथा प्रधान-धारा का परिवर्तन किया। उनकी सारी कहानियाँ 'गल्पगुच्छ' में संकलित हैं। सत्येन्द्र के अनुसार 'उन्होंने लगभग सौ कहानियाँ लिखीं। उनकी कहानियाँ सामान्य स्त्री पुरुष के जीवन की सामान्य घटनाओं पर खड़ी की गई हैं। इनमें विषय वैविध्य ही नहीं शैलीगत वैविध्य भी उद्घाटित है^२।

'चोखेर बालि', 'नौका डुबी', 'गोरा', 'शेधर कविता', 'राजषि' आदि रवीन्द्र नाथ टैगोर के प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिसमें उन्होंने एक अनुकरणीय स्वक्रीयता का परिचय दिया। टैगोर ने प्रहसन भी लिखे। 'चिर कुमार सभा' उनका एक बहुत ही प्रसिद्ध प्रहसन है।

निबन्धों के क्षेत्रों में भी उनकी देन बहुत महत्वपूर्ण है। 'शिक्षा',

१- वी. एस. नरवणों, 'गार्डन इंडियन थाट (मद्रास: ऐशिय पब्लिशिंग हाउस, १९६६) पृ. ११५

२- सत्येन्द्र बंगला साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (उत्तर प्रदेश: लखनऊ हिन्दी समिति सूचना विभाग, १९६८) पृष्ठ २३६

‘भारतवर्ष’, आत्म शक्ति’, ‘स्वदेश’, ‘समाज’, ‘शान्ति’ आदि उनके समस्या मूलक तथा दार्शनिक निबन्धों के संकलन है। ‘जापान यात्री’, ‘वशियार चिटि’ आदि प्रमर गाथाएं हैं। ‘जीवन-स्मृति’ उनकी आवेग मूलक गद्य रचना का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। ‘प्राचीन साहित्य’, ‘लोक साहित्य’ ‘आधुनिक साहित्य’, ‘साहित्य’ तथा ‘साहित्येर पथ’ उनके साहित्य तत्व विषयक निबन्धावली संग्रह हैं। इन साहित्य विषयक निबन्धों में उन्होंने रस, सौन्दर्य और वृहत् जीवनादर्श के आधार पर भारतीय साहित्य विचार का नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है।

इस तरह साहित्य सृजन में पारंगत कवि ने अपनी सृजन कला से साहित्य के क्षेत्रों का उज्जल बनाया है। सक्षेप में रवीन्द्रनाथ ने बंगला भाषा को जो कुछ दिया है उसकी तुलना नहीं है। उनकी प्रतिभा के वरद स्पर्श से बंगला भाषा को जो संगीत और नवीनयता प्राप्त हुई, यह अतुलनीय है। मन्मथनाथ गुप्त के शब्दों में ‘बाद में बंगला को शायद और रवीन्द्रनाथ के समान प्रतिभाशाली पैदा करने का गौरव प्राप्त हो किन्तु बंगला भाषा को रवीन्द्रनाथ जिस प्रकार बदल गए उसे बदलने, बनाने का गौरव फिर किसी को नहीं मिलेगा^१।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की भारतीय संस्कृति के प्रति अनन्य निष्ठा थी। अतएव उनके काव्य का प्रमुख वर्ण्य विषय भारतीय संस्कृति के विविध रूप हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति के विराट स्वरूप को निकट से समझकर आत्मसात किया। ‘शान्ति निकेतन’ की स्थापना से कवि का यही उद्देश्य सर्वोधिक सफलीभूत हुआ जिससे रवीन्द्र भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि बने और विश्व मानव भी।

रवीन्द्रनाथ के लिए भारतीय संस्कृति कोई ऐतिहासिक दास्तावेज नहीं अपितु भारतीय संस्कृति विश्व के दरबार में अपना योग्य व गौरवपूर्ण स्थान लेने वाली चैतन्य को एक विशिष्ट और जीवित अभिव्यक्ति थी। उन्होंने भारतीय संस्कृति के स्थायी और प्राणवायी तत्वों को स्वीकार किया।

टैगोर ने केवल अपनी संस्कृति ही नहीं वरन् हर एक राष्ट्र या संस्कृति के प्रति आदर का भाव प्रकट किया क्योंकि उनके विचार में मनुष्य जाति सर्वत्र समान है।

भारतीय संस्कृति में जाति-पाति के भाव तथा उंच नीच के भाव को स्वीकार करने वाला अधिकारवाद भी आता है। रवीन्द्रनाथ जी स्वयं जन्म से

१- मन्मथनाथ गुप्त, बंगला साहित्य - दर्शन (नई दिल्ली: सरता साहित्य मंडल, १९६०)

ब्राह्मण थे उन्होंने अपने दर्शन या समाज व्यवस्था की कल्पना में वर्ण-व्यवस्था को कोई स्थान न दिया । इस दृष्टि से उन्होंने शान्ति निकेतन के लिए 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाम रखा था । इतना ही नहीं उन्होंने संस्कारों को आगे करके उन्होंने इन संस्कारों को दीक्षा का रूप भी दिया था । स्वयं दीक्षा लेकर दूसरों को उन्होंने दीक्षा दी थी ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की उपासना जीवन देवता की थी, जीवन के मांगल्य और विश्व मानव की थी । उन्होंने द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत इन तीनों के झगड़े में पड़ने की बजाए तीनों के बीच सुन्दर समन्वय किया । उन्होंने मधुरा भक्ति का विशुद्ध स्वरूप प्रस्तुत किया । उन्होंने जो पौराणिक आख्यान तथा लोक कथाएं, बौद्धों की जातक कथाएं मनुष्य के हित के लिए भी उन्हें लिया ।

काका साहब कालेकर के शब्दों में रवीन्द्रनाथ में अन्यान्य भारतीय परम्परा का जीवन, चिन्तन और कथन का रसायन मिलता है । रवीन्द्रनाथ की सिद्धि इसी में है कि उनकी रचनाओं में भारत का विशाल चित्त और उदार हृदय व्यक्त होता है^१ ।

अतः रवीन्द्रनाथ ने भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श, उसकी सुन्दरता का गान अखण्ड गया है । यही नहीं उन्होंने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप को यूरपि के सामने विशव किया । इस दृष्टि से रवीन्द्रनाथ हमारी परम्परा-समृद्ध भारतीय संस्कृति के महान् उद्गाता हैं । वे हमारी संस्कृति के सबसे बड़े दूत हैं और सांस्कृतिक परिचय बढ़ाने का ओर समन्वय सिद्ध करने का काफी हद तक कार्य उन्हीं के हाथों हुआ ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तन परम्परा में रवीन्द्रनाथ टैगोर का स्थान विशिष्ट है । वे भारतीय परम्परागत वर्ष में कवि थे, द्रष्टा थे, लौकिक ओर दिव्य के बीच सेतु के समान थे । उनकी प्रतिभा ने जिस-जिसका स्पर्श किया, उसी को अपनी प्रतिभा से समृद्ध किया । अपने नाम को सार्थक कर उन्होंने रवि की ही भाँति अपने युग को आलोक और उष्मा दी, अपने देश की भौतिक एवम् मानसिक भूमि को जीवन दिया, चिन्तन के अपरिचित क्षितिजों का उद्घाटन किया और पूर्व एवं पश्चिम की खाई पर सेतु बांधा^२ । आज वाणी के विशाल मन्दिर में कविता शिल्प के सर्वोत्तम

१- काका साहब कालेकर, युगमूर्ति (अजमेर: जय कृष्ण अग्रवाल, १९६६) पृ. ३६१

२- कृष्ण कुमारी रवीन्द्रनाथ एक जीवनी (आगरा: शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, १९६८) पृ. ३

कलाकार रवीन्द्र ही समझे जाते हैं। पन्त ने रवीन्द्र की महत्ता स्पष्ट करते हुए कहे हैं..... "निस्सन्देह रवीन्द्रनाथ जैसे महान् कलाकारों तथा जीवन-द्रष्टाओं की आत्मा को गढ़ने के लिए इतिहास को सहस्रों वर्ष तक शुभ रस पीठिका पर अक्षय साधना करी पड़ती है, जिससे रवीन्द्रनाथ की कौटि के 'रसो वै सः' पुरुष का अवतार तथा अभिव्यक्त होता है^१।

□□□□□

प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी
अमृतसर-१४३००५

१- पन्त, टीगोर सटेनरी मुनिवार (यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद, १९६१-६२) पृ०. ६

हिन्दी कथा-साहित्य में महिलाओं का योगदान

● डॉ. दिलशाद जीलानी

किसी भी साहित्य का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि साहित्य के विकास में पुरुषों के समान ही महिलाओं का भी योगदान रहा है। यद्यपि साहित्य के विकास में महिला का योगदान, उसके भावनात्मक जगत के अस्तित्व की कहानी है जिसे कभी उसने मौन होकर कहा और कभी व्यक्त शब्दमय रूप में। लेकिन भारतेन्दु युग में लेखिका के रूप में महिला की स्थिति दयनीय थी। कारण स्पष्ट है..... नारी शिक्षा की कमी और उसका सामाजिक कार्य-क्षेत्र के सर्वांगीण अनुभव का अभाव। द्विवेदी युग के आरम्भ में सर्वप्रथम बंग महिला उर्फ श्रीमती राजेन्द्र बाला धोष ही थीं, जिनका कथा-साहित्य में नामोल्लेख मिलता है, किन्तु विकास काल में उषा देवी मित्र, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला चौधरी, कंचनलता सख्खरवाल आदि अनेक महिला लेखिकाओं ने अपने अमूल्य योगदान द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य में विशिष्ट योगदान देना आरम्भ किया। यह सही है कि स्वतन्त्रता से पूर्व नारी को त्याग और आदर्श की मूर्ति के रूप में ही चित्रित किया जाता है। उसे हर स्तर पर पीड़ित ही होना पड़ता था। उषा देवी मित्रा की कहानियाँ के अधिकांश नारी पात्र त्याग की भावना लिये हुए हैं, विरह में आँसू और आँहें छोड़ती हैं। इसी प्रकार अन्य लेखिकाओं ने नारी के बलिदान की कहानियाँ ही लिखी। लेकिन धीरे-धीरे देश की स्वतन्त्रता के साथ-साथ महिला-लेखिका के मस्तिष्क का भी विकास हुआ। उनका अनुभव क्षेत्र सीमित न रहकर के विस्तृत हुआ। इस अनुभव में उसने अपने आसपास के तथा अपने परिवेश का चित्रण किया। और वह परिवेश है उनका अपना ही नारी जीवन का चित्रण।

महिला लेखिकाओं ने नारी होने के कारण नारी की विभिन्न समस्याओं को ही अपने कथा-साहित्य का आधार बनाया है। इन्होंने अपने आस पास के परिवेश में स्थित नारी-जीवन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संवेदनाओं को यथार्थमय भाषा में अभिव्यक्त किया है। यह इन महिला-कथाकारों की विशिष्ट देने है। इसी के फलस्वरूप इन लेखिकाओं का कथा संसार नायिका-प्रधान बन गया है।

नारी होने के कारण इन्होंने मानसिकता से पीड़ित नारी का

यथा-तथ्य चित्रण किया है। लगभग सभी लेखिकाओं ने मनोविज्ञान को आधार बनाकर अपनी रचनाएँ लिखी हैं। क्योंकि आधुनिक युग संघर्ष का युग है और यह संघर्ष मनोवैज्ञानिक परिस्थिति में जन्म लेता है। इन्होंने मनोवैज्ञानिक कथाओं की संरचना करके तथा सूक्ष्म यथार्थ रूप का चित्रण करके अतिथथार्थवादी कथा-साहित्य को अपनाया है। इन्होंने नारी मनोविज्ञान को अधिकांशतः लिया है जिसमें नारी-जीवन की विसंगतियों को बड़ी गहनता से आत्मसात् किया गया है। नारी मानसिकता को लेकर इस काल के अनेक उपन्यास देखने को मिलते हैं, जैसे.....कृष्णा सोबती कृत "सूरज मुखी अंधेरे के" उपन्यास में लेखिका ने नारी की नियति और नियति से उसकी लड़ाई एवं उसकी बेबसी को उभारना चाहा है। एक नारी छोटी-सी घटना के कारण कितनी उत्तेजित एवं कुटित हो जाती है यही इस उपन्यास में लेखिका के कहने का उद्देश्य है। जबकि मृणाल पाण्डे कृत "विरूद्ध" में आधुनिक नारी के मानसिक संघर्ष को उभारा गया है। नारी होने के कारण लेखिका ने नारी-मन में डुबकी लगा कर नारी के अन्तर्विरोधों का सशक्त चित्रण किया है। उषा प्रियम्बदा कृत "रुकोगी नहीं राधिका" उपन्यास में एक भारतीय नारी की दुविधा को आधार बनाया गया है जो अपनी दिशा तय नहीं कर पाती। इस उपन्यास में राधिका के माध्यम से मध्यवर्गीय नारी के मानसिक तनाव का विश्लेषण किया गया है। मेहरून्सिसा परवेज कृत "आँखों की दहलीज" उपन्यास आधुनिक नारी के अन्तः संघर्षों को लेकर चलता है। इसमें नारी के सहज संतति-प्रम का अतृप्त रह जाना ही कथा का मूल बिन्दु है। इसके अतिरिक्त नारी की सामाजिक विवशताओं, आन्तरिक समस्याओं को एवं बदले हुए युग के स्वर की कथा हमें शिवानी के "भैखी", उषा प्रियम्बदा के "पचपन खम्भे लाल दीवारे", रज़िया फ़सीह अहमद के "तारा", रजनी पनिकर के "दूरियाँ" आदि उपन्यासों में भी देख सकते हैं। इस प्रकार अपनी समूची परिणतियों के साथ अलग-अलग दायरे की नारी की पहचान ये उपन्यास कराते हैं।

जबकि पति-पत्नी के संबंधों में ऊब का मनोवैज्ञानिक चित्रण मृदुला गर्ग "उसके हिस्से की धूप" उपन्यास में हुआ है। इसके अतिरिक्त कृष्णा अन्होत्री कृत "बौनी परछायों" एवं "बात एक औरत की" और दीप्ति खंडेलवाल कृत "प्रिया" एवं "कोहरे" आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

इन लेखिकाओं ने बाल-मनोविज्ञान का सही अंकन भी अपने

कथा-साहित्य में किया है। मालती जोशी कृत "पराजय" कहानी-संग्रह बाल मनोविज्ञान पर आधारित है तथा मृणाल पांडे की "खेल" कहानी भी बच्चों की मानसिकता में असमानता के सूत्रों की अच्छी मनोवैज्ञानिक कहानी है। जबकि मन्नू भंडारी का "आपका बंटी" एक खासा मनोविश्लेषण परक उपन्यास है। परिस्थितियों के तूफान में पड़कर व्यक्ति कितना असहाय बन जाता है, यह बात इस उपन्यास के माध्यम से स्पष्ट हो जाती है। इस उपन्यास की सर्जना के पीछे लेखिका का मूल उद्देश्य, वास्तव में यही दिखाना है कि पति-पत्नि के बीच अलगाव की स्थिति के पैदा होने से उनकी संतान की कितनी दयनीय दशा हो जाती है।

वरतुतः महिला कथाकारों के कथा-साहित्य पर मनोविज्ञान ने एक विस्तृत क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाया है। क्योंकि महिलायें पुरुष की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होती हैं। इस लिये इन्होंने मनोविज्ञान के सूक्ष्मतम तत्वों को अपने कथा-साहित्य में स्थान देकर महान्तम साहित्य को जन्म दिया है। यह अपने आप में इनकी महान उपलब्धि है।

महिला कहानीकारों ने काल्पनिक वस्तु स्थिति को महत्व न देकर भोगे हुए अनुभव के आधार पर अपनी कहानियों की रचना की है। मन्नू भंडारी मूलरूप से नारी जीवन की ही कथाकार हैं। लेखिका ने अपनी लिखित कहानियों में नारी को धर की चारदीवारी से निकाल कर कर्म-क्षेत्र में ला खड़ा किया है। इन्होंने आधुनिक युग में बदलते हुए सन्दर्भों के साथ नारी की वैयक्तिकता और अस्मिता की खोज की है। आज आधुनिक एवं शिक्षित नारी अपने ही परिवेश में संघर्षमय जीवन से जुझ रही है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण हमें इनके "यही सच है" कहानी-संग्रह में देखने को मिलता है। सिम्मी हर्षिता ने भी यथार्थ के धरातल पर अपनी कहानियों की रचना की है। इनके पात्र आधुनिक युग के अन्तः बाह्य द्वन्द्व के शिकार हैं। ये हमसे किसी तरह की सहानुभूति एवं करुणा की मांग नहीं करते, बल्कि हमें अपने साथ जोड़े लेते हैं। इनके "कमरे के बन्द आभास" कहानी - संग्रह में पात्र अपने परिवेश की विडम्बनाओं, विसंगतियों एवं विद्रूपताओं से उभरे हैं। इसके अतिरिक्त ममता कालिया, शिवानी, सूर्यबाला, मालती जोशी आदि महिला कहानीकारों ने भी अपने अनुभव के आधार पर भोगे हुए यथार्थ का चित्रण कहानी द्वारा प्रस्तुत किया है।

महिला-कथाकारों ने समय की लकीरों से हटकर अपने अलगाव की धोपणा की और स्वतन्त्र लेखन का विकास किया है। इन लेखिकाओं ने नारी

की यौन-भावना की अभिव्यक्ति और परिणति को बड़े "बोल्ड" और विश्वस्त ढंग से चित्रित किया है। जिनमें दीप्ति खण्डेवाल्ले मेहरुन्निसा परवेज, मन्नू भंडारी, ममता कालिया, उषा प्रियम्बदा, जमीला हाशमी, नासिरा शर्मा, कृष्णा सोबती, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाएं उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भावुकता से बचकर तटस्थ दृष्टि से हर स्थिति का चित्रण किया है, जिससे इनकी कृतियों में अश्लीलता खुलकर आ गई है। इस सन्दर्भ में कई आलोचक कहते हैं कि महिला कथा-साहित्य की अभिव्यक्ति अश्लील है। लेकिन यह कथन सटीक ठहरता नहीं है। क्योंकि अमर कथाकार जीवन की वास्तविकताओं को चित्रित करने के लिए ऐसी स्थितियों का चित्रण करता है जो अश्लीलता की कोटि में आती हैं, तो क्या वह अश्लील समझी जाएगी कभी नहीं..... फिर तो सम्पूर्ण महिला कथा-साहित्य अश्लील ही माना जाएगा। क्योंकि महिला कथाकारों ने सपाट भाषा में तथा-कथित अश्लील यथार्थ को अपने कथा-साहित्य में प्रश्रय दिया है। इसके साथ नारी-जीवन की सामाजिक परिस्थितियों में निरन्तर संघर्ष और उनसे जुझना भी इन कथाकारों की नियति रही है। इन प्रत्ययों का चित्रण करने में इनकी अत्यधिक सफलता मिली है।

अधिकार महिला-कथाकारों की कृतियों की कृतियों में कथानक का अभाव एवं तत्वों का विघटन मिलता है। इनकी कृत्यों का मूल्यांकन कथा-तत्वों के सीमित कठधरों में नहीं किया जा सकता। इन्होंने कथानक की अपेक्षा कथ्य को उभारा है। इसका सशक्त उदाहरण कृष्णा सोबती का उपन्यास "जिन्दगीनामा" है। जबकि कई उपन्यासों में हम कथावस्तु का सुगठित रूप भी पाते हैं। इनमें हम रजनी पनिकर के "काली लडकी" सूर्यबाला के "मेरे सन्धिपत्र" कृष्णा अग्निहोत्री के "टपरे वाले" आदि उपन्यासों को ले सकते हैं। कहीं-कहीं पर महिला कथाकारों ने घटनाओं पर बल न देकर मनोवैज्ञानिक आघात-पतिघात को ही महत्व दिया है इस सन्दर्भ में हम ममता कालिया कृत "बेधर" उपन्यास की संजीवनी एवं कृष्णा सोबती कृत "सूरज मुखी अंधेरे के" उपन्यास की रत्ती को देख सकते हैं। इन लेखिकाओं ने अपनी समस्त असंगतियों एवं विसंगतियों को लेकर चरित्र को उभारने के साथ-साथ परिवेश को भी मुखरित किया है इस प्रकार महिला कथा-साहित्य में शिल्प के नये-नये प्रयोग देखने को मिलते हैं। इन प्रयोगों का ध्येय कथा-साहित्य को युग-चेतना के अनुरूप बनाना है।

महिला कथा-लेखिकाओं ने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी लेखनी चलाई है तथा प्रत्येक विषय के प्रति आदर्श के आवरण को छोड़कर यथार्थ चित्रण के

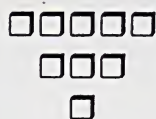
द्वारा अपने कथा-साहित्य को प्रस्तुत किया है और इसमें इनको सफलता भी मिली है। इनके कथा-साहित्य में नवीन मूल्यों की स्थापना हुई है। जहाँ एक ओर धार्मिक और समष्टिगत मूल्यों का उत्तरोत्तर हास होता जा रहा है वहीं वैयक्तिक मूल्य बड़ी तेजी से स्थापित हो रहे हैं। इन्होंने प्राचीनता से मुक्त होकर, निर्मम जीवन की जटिलता को पहचानते हुए नये शिल्प के आयामों की खोज की है। इन्होंने अपनी संवेदना को व्यक्त करने के लिए नवीन शब्दावली का सहारा लिया है, नये मुहावरे ढूँढ़े हैं। वातावरण को प्रतीकों, बिम्बों, तथा संकेतों से उभारा है। महिला लेखिकाओं ने पैंटेसी द्वारा पात्रों की मनः स्थिति को स्पष्ट किया है, बिम्बों द्वारा चित्रात्मकता उत्पन्न की है, सांकेतिकता द्वारा अपनी बात को व्यापक अर्थ प्रदान किया है।

महिला-कथाकारों ने आधुनिक जीवन की संवेदना को पहचानने की चेष्टा की है। इन्होंने परिवेश को पहचान कर उसमें जीते-जगते व्यक्ति की नियति को पहचाना है। यही कारण है कि इनके उपन्यास और कहानी पढ़ते-पढ़ते हमें अपने जीवन की ही झलक दिखाई देती है, हमें वंश वास्तविकता मिलती है जो हमारे आस-पास बिखरी हुई है, वे सत्य मिलते हैं जिनका हमारे जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है तथा वे कुण्ठाएँ एवं ग्रन्थियाँ मिलती हैं जिन्हें हम भयवश किसी के सामने प्रकट नहीं कर पाते। इन कथा-लेखिकाओं ने जीवन के सभी प्रत्ययों को ईमानदारी से प्रस्तुत किया है।

देश की वर्तमान स्थिति में नारी का किस प्रकार शोषण हो रहा है, किस प्रकार वह मानव-सभ्यता के बीच पिसती जा रही है, इसके प्रति कथा-लेखिकाओं का आक्रोश उभरा है। साथ ही वर्तमान स्थिति के उन धिनौने सत्त्यों का पर्दाफाश भी किया है जो धर्म की आड़ में हो रहा है, उस अंधी राजनीति को उभारा है जिसकी चक्की में पिसकर हजारों बेगुनाह मारे जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने मध्यवर्गीय विवशता और धुटन को उभार कर अपनी कतियों द्वारा उसका सफल चित्रण भी किया है। इस प्रकार इनके कथा-साहित्य में नारी सम्बन्धी परम्परित मान्यताओं, अवधारणों, और मानसिकताओं में पर्याप्त अन्तर आया है। ओदम युग के खुले स्वच्छन्द वातावरण, वैदिक युग के उच्चासून और मध्ययुगीन परतन्त्रता के बाद आधुनिक युग की बौद्धिकता में नारी ने उत्थान-पतन की विविध स्थितियों का इतिहास बनाया है। अतः नारी अब भी संघर्ष कर रही है कभी समाज से, कभी पुरुष से, कभी खुद से वह कभी प्रश्न पूछती है तो कभी प्रश्न बन जाती है।

निरसक्रिय होकर कह सकते हैं कि महिलाओं के कथा-साहित्य का

भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। महिलाओं की संवेदनशील-दृष्टि अन्तर्बाह्य व्यक्ति का सम्पूर्ण चित्रंकन करने में सफल हुई है। इनके द्वारा जिस कथा-साहित्य का निर्माण हो रहा है वह अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी है। यह कहना उचित ही है कि महिलाओं का अनुभव मानव-जीवन को कर्तव्य-परायण बनाने में सहायक सिद्ध होगा। अतः हम देखते हैं कि हिन्दी कथा -- साहित्य के विकास में महिलाओं का योगदान पहले जैसी भी रहा हो परन्तु आजकल कथा-साहित्य के विकास में इनका योगदान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। यह महिला कथा-साहित्य की प्रगति की दिशा में शुभ संकेत है।



नई कहानी में पारिवारिक विधटन

□ डॉ. मुश्ताक अहमद डार

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत हर व्यक्ति सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन रहने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार से पूँजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवादी व्यवस्था का रूप धारण कर लिया। इस में व्यक्ति अपने बुजुर्गों पर आश्रित न रह कर अपना मार्ग स्वयं निर्मित करने के लिए इच्छुक रहता है, भले ही इस के निर्माण में उसे कितना ही कष्ट सहना पड़े अथवा अपनों या अपने देश से कटना भी पड़े। किन्तु वह इन सभी यातनाओं को स्वीकारते हुए अपनी इच्छानुकूल प्रयासरत रहता है। भारत देश में यह नई पारिवारिक व्यवस्था स्वतंत्रता के पश्चात् मुख्य रूप से देखने को मिली। नई कहानी में इस नई पारिवारिक व्यवस्था के गुणों और अवगुणों को अत्यन्त सूक्ष्मता से देखा गया। परम्परागत भारतीय जीवन मूल्यों एवं विचारधारा के विपरीत पाश्चात्य जीवन मूल्यों का गहरा प्रभाव पड़ा। परिणामतः अलगाव, अकेलेपन, असंतोष, अजनबीपन तथा आत्म केन्द्रीय प्रवृत्ति ने आम भारतीय को प्रभावित किया। स्वतंत्रता के पश्चात् देश में होने वाले नगरीकरण, औद्योगीकरण आदि से विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं। जिन के फलस्वरूप मानव-चरित्र, भावनाओं, विश्वासों तथा पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आने लगे। पारस्परिक प्रेम सद्भाव तथा सहयोग जैसी भावनाओं के लिए हमारे जीवन में कोई मूल्य नहीं रहा। हम केवल 'आत्म' तक सीमित होकर रह गये।

'नई कहानी में अत्यन्त ईमानदारी के साथ जीवन-अनुभव, परिवेश की यथार्थता एवं संवेदनशीलता को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से जहाँ नई कहानी में यान्त्रिकी युग की विषय परिस्थितियों में जूझते हुए व्यक्ति की आन्तरिक पीड़ा, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, टूटन, निराशा, धुटन, उत्कंठा तथा व्याकुलता का चित्रण हुआ है वहीं पारिवारिक विधटन का भी चित्रण किया गया है। आर्थिक स्वाधीनता की प्रबल इच्छा तथा सम्बन्धों के स्थापित नैतिकता का विधटन इस के मूल कारण हो सकते हैं, किन्तु जो जटिलता, गूढ़ता, मानसिक द्वन्द्व और पीड़ा है उसके पीछे कई अन्य कारण भी हैं। 'पत्नीत्व, मातृत्व नारी जीवन की धरम परिणति न होकर अब केवल एक

सामाजिक आत्म-निर्भरता मात्र रह गये है।^१ स्त्री और पुरुष दोनों ने एक दूसरे के महत्त्व को नकारा और जिसके परिणामस्वरूप परिवार भी असंतोष और धुटन को महसूस करने लगे।

व्यक्ति न जिस नये परिवेश को आधुनिक अथवा वैज्ञानिक होने की संज्ञा दी वह वास्तव में छल-कपट, स्वार्थ आदि से पूर्ण है। इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रख कार नये कहानीकारों ने परिवारिक विधटन के विभिन्न चित्रों को उकेरा। महिला तथा पुरुष कहानीकारों ने इस समस्या का अपनी कहानियों का विषय बनाया। उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, मृणाल पाण्डे, राजी सेठ, सूर्य बाला, चन्द्रकान्ता तथा कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव, महीप सिंह आदि ने अपनी कहानियों में इस का चित्रण किया है। व्यक्ति भरे समाज अथवा परिवार में रहते हुए भी इस विधटन का शिकार होता दिखाई देता है। वह अजनबीपन और व्यर्थता के बोध से जूझता है। इस प्रकार की स्थिति को कभी अपने ही घर और परिवार के परिवेश में तो कभी दूसरे परिवेश के लोगों के मध्य सहना पड़ता है। 'वापसी' (उषा प्रियंवदा) 'तीसरा आदमी' (मन्नू भण्डारी) 'बदली बरस गयी' (कृष्ण सोबती) तथा कई अन्य कहानियाँ इस का प्रमाण हैं। एक और नई महिला कथाकार चन्द्रकान्ता की कहानी "एक और परदेश", "शेष होता सम्राज्य" तथा "देश काल" कभी इस विधटन का कारण स्त्री अथवा पुरुष के अनैतिक सम्बन्ध बन जाते हैं। इन में से यदि कोई भी पर-पुरुष अथवा पर-नारी से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करता है तो परिवार में अलगाव घुटन और तनाव का वातावरण जन्म लेता है जिस के कारण सम्बन्धों में नैतिक पतन उत्तन्त होता है। एक दूसरे पर विश्वास उठने के कारण परिवार टूटते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं पर अपराध बोध से पीड़ित होकर पश्चात्ताप भी किया जाता है। किन्तु प्रायः इस के दृष्परिणाम ही अधिक होते हैं।

मन्नू भण्डारी की "उँचाई", "तीसरा आदमी" तथा मृदुला गर्ग की "वितृष्णा" सूर्यबाला की "रक्षा कवच" चन्द्रकान्ता की "अनावृत", "मलबा" आदि कहानियाँ इसी प्रकार के संदेश को अभिव्यक्त करती हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग व्यक्ति की कल्पना भी असंभव है। सामाजिक सम्बन्ध सापेक्षता पर आधारित होते हैं। इसमें दो व्यक्ति एक दूसरे से पारस्परिक अपेक्षाएँ रखते हैं। जैसे माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, मित्र-मित्र आदि। सब लोग एक दूसरे से सहयोग की अपेक्षाएँ रखते हैं। किन्तु आधुनिक युग में भौतिक

मूल्यों के अनुरूप इन सम्बन्धों में पवित्रता, त्याग, सहयोग, सहनशीलता, आदि का अभाव हो गया है।^① व्यक्ति की आत्मकेन्द्रीय प्रवृत्ति ने इन सम्बन्धों को खोखला बना दिया। भाई बहन तथा बहन-बहन के मध्य तथा अन्य सम्बन्धों के मध्य अब एक दीवार सी खड़ी हो गई है किन्तु इस दीवार का मुख्य कारण समाज में व्यक्ति की आर्थिक स्थिति है। "जिन्दगी और गुलाब के फूल" उषा प्रियंवदा की एक ऐसी ही कहानी है कि जिस में नौकरी करने वाली बहन के कारण घर में बेकार भाई का महत्व कम हो जाता है। भाई के प्रति घर के अन्य सदस्यों का प्यार, सम्मान, आदर सब कम हो जाता है। परिणामतः भाई अपने ही घर में अब और तनाव को महसूस करता है। तनाव के इस वातावरण से घर के अन्य सदस्य भी जूझते हैं।

आधुनिक युग में आर्थिक दृष्टि से त्रस्त व्यक्ति अपने सम्बन्धों के दायित्व का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाता है। संयुक्त परिवार के विघटन के जो संकेत स्वतंत्रता पूर्व की कहानियों में मिलते थे अब स्वतंत्रता के पश्चात् इस समस्या का चित्रण अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया जा रहा है। रोजी-रोटी की तलाश में व्यक्ति को देश-विदेश की यात्रा करनी पड़ी। अपने लोगों तथा अपने गाँव और नगर से कटना पड़ा। अधिक लोगों की जीविका चला एक व्यक्ति के बस की बात नहीं है। इसलिये परिवार अलग होने लगे। अर्थ को जुटाने की कोशिश में व्यक्ति अपने लोगों से दूर होता गया। चन्द्रकान्ता की कहानी "एक ओर परदेस" इसी तथ्य को उकेरती है। मनीष विदेश में नौकरी करने के बाद सोचता है कि उस का अपना देश अभी निहायत अविकसित है। "अचानक सब कुछ गलत लगने लगा..... उतनी सारी सुविधाएँ, आर्थिक, सामाजिक! मिलेंगी यहाँ? कुछ पाने के लिए कुछ खोना जरूरी नहीं है क्या?"^② इसी प्रकार से महीप सिंह की अधिकांश कहानियाँ संबंधों की व्याख्या की कहानियाँ के साथ साथ परिवारिक विघटन का चित्रण करती हैं। "पडोसी", "बड़े भैया", "सुबह के फूल", "पारदर्शी दीवार" आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

"पारदर्शी दीवार" भाईयों में आये आर्थिक अन्तर को अभिव्यक्त करती है जो उन के बीच दूरी की एक ऐसी दीवार-खड़ी कर देता है कि "उस में से होकर वे एक-दूसरे को देखते-पहचानते तो थे किन्तु निकट नहीं आ पाते थे"। इस प्रकार से यहाँ परिवारिक विघटन का चित्रण हुआ।

① - आधुनिक हिन्दी कहानी - मंगलानन्दस वर्मा, पृ० ६४

② - 'कोई घर काग' (कहानी-संग्रह) एक ओर परदेस - चन्द्रकान्ता, ७६-८१

कहने का आशय यह है कि परिवारिक व्यवस्थाके सामान्य गुण — पारस्परिक प्रेम, सदभाव, एवं सहयोग भावना के मूल्य समाप्त होते जा रहे हैं। अब व्यक्तिवादी परिवार में अकेला व्यक्ति उन सभी समस्याओं और विषमताओं को अकेले झेलने के लिए अभिशप्त है। वह अपने दिल की बात किसी और से नहीं कह पाता है क्योंकि उसे सब अजनबी लगने लगते हैं। यह आज के व्यक्ति की एक बहुत बड़ी विडंबना है। अब परिवार नामक संस्था ही समाप्त होने जा रही है। धीरे-धीरे सम्बन्धों की डोर हमारे हाथ से छूटती जा रही है। और अब सभी सम्बन्ध व्यवसायिक बनते जा रहे हैं। नई कहानी में इसी तथ्य को विभिन्न रंगों में प्रस्तुत किया जा रहा है।



‘नई कहानी’ की भाषा में नवीनता

□ डॉ. सुखवीर कौर

भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने विचारों का सुबोध गम्य रूप में आदान-प्रदान करते हैं। भाषा सहज, सुबोध और भावानुकूल होनी चाहिए किन्तु साहित्य में आकर यह कुछ और विचार पा जाती है और युग संदर्भों, प्रयोगों और साहित्यिक अनिवार्यताओं से जुड़ कर जीवन के सत्यों का उद्घाटन करती है।

आज की कहानी में प्रयुक्त हर शब्द, एक अर्थ रखता है, एक अर्थ विशेष नई कहानीयों में कई बार तो कहानी में प्रयुक्त पंक्ति विशेष से ही समग्र कहानी का अर्थ। मुखरित हो जाता है। ‘नई कहानी’ में जहाँ वस्तु-बोध का नया रूप उभरा है वहीं भाषा के भी नव-नूतन प्रयोग देखने में आ रहे हैं। “आज के कहानीकार का भाषा सम्बन्धी कोई पूर्वाग्रह नहीं है। प्रमुख तथ्य ही अनुभूति और कथ्य है। कथ्य अपनी भाषा स्वयं ढूँढ़ लेता है। कथ्य के अनुरूप भाषा के प्रयोग से अनुभूति और भाषा की अभिन्नता स्पष्ट हो जाती है”^१। अर्थात् प्रत्येक कहानीकार अपने कथ्य के दंग में शब्द चयन करता है, वाक्य विन्यास करता है और प्रत्येक कहानीकार की भाषा की सजावट उसके अपने ढंग से होती है। आज की कहानी क्रमशः यथार्थ के निकट आई है जिसके परिणाम स्वरूप बनावटीपन छूटता गया है या यों कह सकते हैं व्यर्थ के ‘मैनरिज्म’ (Manarism) से उत्पन्न बनावटीपन छूटता गया है। व्यर्थ व्योरो को छोड़ करके कहानीकार ने सहज, सपाट भाषा को अपनाया है, भाषा जन-भाषा, यानी बोल-चाल की भाषा में बदल गई है। “यह नयी कहानी की भाषा ही है जिसके माध्यम से महानगरों की आधुनिकता को कलात्मक अभिव्यक्ति दी जा रही है, क्योंकि महानगरीय जीवन इतना जटिल हो गया है कि इसे अभिव्यक्त कर पाना बहुत सहज कार्य नहीं है। मानव-मन की प्रत्येक अनुभूति को आज नयी कहानी में वाणी मिली है। यह वाणी बहुत ही स्पष्ट भाषा में सुनायी दे रही है। इस भाषा में अनुभूति के साथ-साथ स्वभाविक

१- डॉ. मधु सन्धु: “कहानीकार निर्मल वर्मा-५०-१३८

कलात्मकता की अस्मिता की रक्षा भी इसी भाषा के माध्यम से हो रही है^१।

स्वतन्त्र के पश्चात् जीवन मूल्यों के एवं परम्परागत आदर्शों के विघटन से उत्पन्न भीषण संक्रान्ति ने जन-मानस को परिवर्तित करने में अभूतपूर्व सहयोग दिया तथा मानव जिस मनः स्थिति का भोक्ता बना उसमें सभी प्राचीन मान्यताएँ और आदर्श खोखले हो चुके थे। इन परिवर्तित बाह्य स्थितियों में मानव के अस्तित्व को अभिव्यक्त करने में प्राचीन कहानी की भाषा अक्षम सिद्ध हो चुकी थी। कमलेश्वर जी इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं ".....आदर्शों, संदेशों, उपदेशों, आश्वासनों, धन्यवादों, रिश्तों और प्रतिवादों आदि सभी की भाषा उसके लिए झूठी और बेमानी सिद्ध हो चुकी थी। जीवन की गति इतनी तीव्र और संवेदनों की उम्र इतनी क्षणिक हो गई थी कि नये कहानीकार की समझ में नहीं आता था, कि जनता से किस भाषा में बात करे। प्रेम जैसा शब्द इन बदली हुई स्थितियों में प्रेम की अनुभूति नहीं देता। पिता आदरणीय और अनुभवी व्यक्ति का प्रतीक ही नहीं रहा। परम्परा गौरव की वस्तु नहीं रही। विश्वास अर्थहीन हो गया। आदमी और औरत का समर्पण का सम्बन्ध ही बदल गया। इस प्रकार जीवन में सारे प्रतिमान ही परिवर्तित हो गए। नये आयामों के बढ़ने से नए अनुभव सामने थे। जैसी कोमल अनुभूति का नया रूप सामने था। आदरणीय, मान्य, सामाजिक संस्कार बदल रहे थे जैसे वरसों से चल आया आदरणीय पिता अब आदर का पात्र नहीं रहा था। अतः कमलेश्वर जी के अनुसार "एक शानदार अतीत कुत्ते की मौत मर रहा है, उसी में फूटता हुआ एक विलक्षण वर्तमान रू-ब-रू खड़ा है^२। इस प्रकार नवीन वस्तु बोध के साथ, नवीन आयामों के साथ, नवीन भाषा के प्रयोग के साथ कहानीकार अपनी कहानी में अपनी बात एक नए ढंग और खुले ढंग से कहने को प्रतिबद्ध हुआ। "..... गाड़ी ने सीटी दी। हिरामन को लगा उसके अन्दर से कोई आवाज निकल कर सीटी के साथ उपर की ओर चली गई। -इ-उ-उ। इ-र- स। छि-ई-ई-छनक"^३।

नये कहानीकारों ने जीवन के संक्रमण को पहचाना तथा अपने चिर-परिचित परिवेश की भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। स्वतन्त्रता के बाद आये मानव-संबंधों के विघटन से 'नई कहानी' ने अपने कथ्य के

१- डॉ. कुम० प्रेमपाल- 'नयी कहानी में वैयक्तिक चेतना - पृ० ६४

२- कमलेश्वर 'नई कहानी की भूमिका' . पृ०. २०३

३- कमलेश्वर: 'नई कहानी की भूमिका' . पृ०. २०४-२०५

४- कणेश्वरनाथ रेणु 'तीसरी कसम': दुमरी-संग्रह, पृ०. १६४

माध्यम से प्रस्तुत किया है। संक्रांति और स्वतन्त्रता के बाद मानव के जो सपने टूटे, उनसे क्षोभ उत्पन्न हुआ इससे चारों ओर आंतरिक और बाह्य आवाजें गुंजने लगी। तमाम वातावरण अमूर्त संवेदनाओं, मूर्त विषाद से भर उठा। 'नई कहानी' की भाषा ने अपने रूपकार इन्हीं कथ्यों के अनुसार ग्रहण किया। "उस नर्म री आहट पर अपने को उछालता देख कर उसे भ्रम हुआ, जैसे वह दो टुकड़ों में विभक्त हो गया हो। अपने टुकड़े देखने का वह आदि हो चुका था^①।" यही कारण है कि विघटन के प्रति मोह की दृष्टि पर आधारित इस समय की कहानियों में संवेदनशील ओर भावुक भाषा का प्रयोग हुआ है। मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी', राजेन्द्र यादव की 'टूटना' और कमलेश्वर की 'दुःखों के रास्ते' आदि कहानियों में भाषा का संवेदनशील रूप मिलता है। यहां कृष्णा अग्निहोत्री का कथन उचित है कि "भाषा में युग की आत्मा और भावनाएं होनी चाहिए ओर इसी अपनी आवाज़ को सम्पूर्ण सुर से व्यक्त करने की छटपटाहट हिन्दी कहानीकारों में स्वतन्त्रता के बाद स्पष्ट दिखाई देने लगी थी"^②।

'नई कहानी' की भाषा कथ्य की आन्तरिक अभिव्यक्ति का सहज एवं पुष्ट माध्यम है। नई कहानी में विविध मुखी रसमयी भाषा का प्रयोग हुआ जो अपनी बहुविध मुद्राओं, रंगों, भंगिमा और संकेतों के कारण स्पष्ट बन पड़ी है। यह भाषागत वैविध्य है कि एक कहानीकार से पूर्ण साम्य नहीं रखता अर्थात् प्रत्येक कहानीकार की अपनी ही भाषा है। उन्होंने प्रेमचन्द्र, जैनेन्द्र, अज्ञेय की व्यक्तिगत भाषा दोनों का परिहर कर अपने आसपास के परिवेश की भाषा को कथ्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। "प्रारंभिक कहानी के प्रकृति चित्रण, विवरण वर्णन, सामान्य परिघयात्मक ढंग से होती हुई कहानी मन के भेद तक पहुँच गई, कथानकों के नाटकीय एवं संयोजित रूपों से होती हुई रूढ़ि बंधनों से मुक्त होकर भाषा में सशक्तता आ गई^③।" यज्ञपाल, शंगेय राध्व तथा नागार्जुन आदि के द्वारा भाषा में एक विचारोत्तेजक संवेदना का समावेज्ञ हुआ तथा समाज की शोषणता और गनगता आदि को चित्रित करने में यह भाषा अधिक सहायक प्रतीत हुई। मन्नू भण्डारी की सटीक विशेषणहीन शब्दावली, कमलेश्वर जी की संवेदनामयी भावुकता, राजेन्द्र यादव की कलात्मक साज-संज्जा, फणीश्वरनाथ रेणु की सूक्ष्म ध्वन्यात्मक, निर्मल वर्मा के लम्बे-लम्बे विशेषण तथा मोहन राकेश की गत्यात्मकता आदि

① - कृष्ण बलदेव 'गरी हुई गछली' : गेरा दुश्मन-संग्रह पृ. ७१

② - कृष्णा अग्निहोत्री : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : पृ. ५२

③ - कृष्णा अग्निहोत्री : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : पृ. ५२

विविध प्रकार के निजी प्रयोग प्रभावपूर्ण तथा सार्थक दृष्टिगत होते हैं। युग के साथ जीवन बदलता है तो भाव-विचार बदलते हैं, उनके समझने और समझाने के माध्यम और विचारों को व्यक्त करने के माध्यम भी परिवर्तित एवं विकसित होते हैं। एक माध्यम जब पुराना ओर चुकता हुई दिखाई देता है तो अपने आप विकास क्रम में पुराने पत्ते की जगह नए पत्ते सा नया माध्यम आ जाता है^१।

स्वतन्त्रता के बाद के युग में विश्व सभ्यता, शिक्षा, देश की विभिन्न बदलती दिशाओं में जीवन के मूल्य बदले, दृष्टिकोण बदले और मन बदले। इस जटिल युग में मानव का मन अतृप्ति का शिकार हुआ और उसे विभिन्न कुंठाएं धरने लगी। इन कुंठाओं ओर अचेतन मन के अंतर्द्वन्द्व और संघर्ष को प्रकट करने के लिए वह अधिक गहरी भावाभिव्यक्ति के लिए अकुलाने लगा, या यो कहना असंगत न होगा कि मानव आकाश से धरती की ओर निहारने लगा। उसे अब उच्च वर्ग से अधिक साधारण जीवन माने लगा। 'नई कहानी' की भाषा भावनुकूल भाषा नये तेवर वाली और प्रयोग धर्मा है। इस में विषयों को बोल-चाल बोल शब्द देना, शब्दों को नया अर्थ देने और उनकी व्यंजकता में अभिवृद्धि करने का आग्रह है। नवीन भावों के लिए नवीन भाषा भी चाहिए, इसी दिशा में आज की कहानी ने प्रयास किया और उसमें कहानीकारों की भाषा सरल ओर छोटे-छोटे वाक्यों, मुहावरों और कहावतों, सूक्तियों आदि से पूर्ण है। "हम में 'कुछ' ऐसा है जो हमेशा अनकहा रह जाता है जो मौन की एकान्त छाया में पलता है और चुपचाप वहीं झर जाता है^२।

सामाजिक चेतना को सफलता पूर्वक संकेतों द्वारा बांधने का प्रयास भी आज की अर्थात् नई कहानी की भाषा ने सफलता पूर्वक किया है।

अंग्रेजीकरण और राष्ट्रीकरण की प्रवृत्ति नयी कहानी में प्रमुख है। अधिकांश कहानीकार मुख्यतः नगरों, महानगरों, देश-विदेश में रहने वाले हैं। पंजाबी, उर्दू, अंग्रेजी शब्दों और अंग्रेजी वाक्यों का प्रयोग हमारी भाषा का सहज अंग बन गया है। "यह भाषा हिन्दी और हिन्दुस्तानी के विवाद से ऊपर देश में भावात्मक एकता लाने का प्रयास कर रही है^३"। इसी लिए अंग्रेजी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं के शब्दों का मिश्रण है। ".....हाई डोन्ट यू बिलीव मी, आई लव यू सोमच"^४। निर्मल वर्मा की कहानियों में उर्दू तथा अंग्रेजी

१- कृष्णा आग्निहोत्री: स्वातंत्र्यान्तर हिन्दी कहानी - पृ० ५२

२- निर्मल वर्मा: 'तीसरा गवाह' परिन्द-संग्रह - पृ० ५०

३- डा. मधु सन्धु: कहानीकार निर्मल वर्मा - पृ० १४०

४- निर्मल वर्मा: 'सितम्बर की एक शाम' परिन्दे-संग्रह

शब्द, अंग्रेजी वाक्य, अंग्रेजी गीत तथा अंग्रेजी शब्दों का हिन्दीकरण का प्रयोग हुआ है। निर्मल वर्मा के अतिरिक्त राजेन्द्र यादव, उषा प्रियम्बदा, मन्नू भण्डारी, श्री कांत वर्मा, ममता कालिया, गिरिराज किशोर तथा सुदर्शन चौपड़ा आदि की कहानियों में भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए जन प्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे-----हसबेन्ड, फ्रैन्ड, एमरजेन्सी वार्ड, ट्रेन, अलबम, रिहर्सल, नोट-बुक, सर्विस, आर्डर, टेबिल, टेबिल क्लार्क, शट अप इत्यादि शब्दों का प्रयोग नये कहानीकारों ने निःसंकोच तथा सहज रूप से किया है।

नई कहानी की भाषा रूमानी नहीं, वह तो विरोध की भाषा है। कहानी के पात्र, उर्दू, पंजाबी, अंग्रेजी के साथ-साथ ग्राम्य और नगर शब्दों का प्रयोग बेझिझक करते हैं जिस से उनके भाव-सम्प्रेषण में सहजता आ गई है और अर्थ बोध आसानी से हो जाता है। अधिकांश कहानियों में ग्राम्य-प्रयोग की ताजगी और नगर प्रयोग की सरसता एवं स्वाभाविकता है। इन सभी प्रयोगों ने भाषा के तीखी धार वाला कर दिया है। किन्तु इन प्रयोगों ने भाषा की सरलता और सपाटता पर कहीं आँच नहीं आने दी, भाषा निजत्व की रक्षा करती हुई यथार्थ के बीच उभरने वाले प्रत्येक रेशे को उजागर करने में पूर्ण सफल हुई है। कहानीकारों ने भाषा की रचनात्मक वास्तविकता को तो पहचान ही है, साथ ही कहानी की आत्मा और भाषिक-सीमा में भी संतुलन स्थापित किया है। भाषा का यह बदलाव बदली हुई संवेदना की देन है। उस नयी संवेदना ने नये कहानीकार को भाषा के अनेक नये प्रयोग करने की ओर प्रेरित किया। इस प्रयोग रूप ओर नये भाषा - कसाव ने अनुभूति को गहनता प्रदान की है, भाषिक-अर्थवत्ता दी है, कहानी को एक विशेष प्रकार की लय दी है एवं अर्थनिष्ठता, उद्देश्य पूर्णता, विषयानुकूल और सांकेतिकता प्रदान की है, जिससे भाषा में इतनी प्रभाविकता आ गई है कि प्रामाणिक यथार्थ को उसने साकार कर दिया है। "भाषा में सम्प्रेषण शक्ति बढ़ी है, अभिधा की उच्चावस्था यहां समाहित हो गयी है, इसमें नवीन लाक्षणिकता आयी है और व्यंजन ने भाषा की पतों को ही खोलकर रख दिया है जिससे भाषा में एक नयी गूँज पैदा हो गयी है। उसका एक नया रूप बंध उभरा है, जिस से हिन्दी गद्य में विविधता, शक्ति लचीलापन, ताजगी, मार्जन अर्थगर्भिता और उर्जायुक्त सर्जनात्मकता आयी है ❶। सरस विभव निकालते चलते हैं अतः उसमें

❶-- डॉ० रघुवर दयाल वासीय : हिन्दी कहानी बदलत प्रतिमान पृ० २१५

चित्रोपमा आ गई है। वस्तुतः जो वस्तु स्थितियाँ डूबी हुई और धुंध में खोई दिखाई देती थी उन्हें बौद्धिकता की गरीमा से सामने लाने का श्रेय आज की भाषा को है।

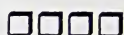
अतः यह कहना तर्क संगत प्रतीत होता है कि नई कहानी के कहानीकारों में हिन्दी-हिन्दुस्तानी के झमेले को समाप्त करके भावात्मक एकता प्रदान करने के सफल प्रयास किये हैं। अतः इन्होंने तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी, ग्रामीण, प्रान्तीय सभी प्रकार के शब्दों को अपनी कहानियों में स्थान दिया है। जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उनकी भाषा पुरानी कहानियों की भाषा से एकदम अलग है। जहाँ उसमें एक ओर सूक्ष्म अर्थवत्ता आयी है।

शब्द भंडार समृद्ध करके, गाँवों में प्रयुक्त होने वाली ठेठ शब्दावली द्वारा शब्द प्रयोगों के उपयोग में नवीनकरण हुआ है। उनके रूप रंग को नये संदर्भ प्रदान किये गये हैं। वाक्य-विन्यास बदला हुआ है जो उसे पुराने रूप से लगभग अलग कर देता है। जहाँ एक ओर मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, फणीश्वर नाथ रेणु, शैलेश मटियानी, राजेन्द्र अवरुथी, मधुकर, गंगाधर की संस्करी भाषा है, वहाँ दूसरी ओर गिरिज किशोर, राजेन्द्र यादव, रमेश बक्षी, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्बदा, कृष्ण बलदेव दैद्य में संश्लिष्टता को अभिव्यक्ति देने के लिए निरंतर छटपटाती भाषा है।

निर्मल वर्मा, रामकुमार, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर ने अमूर्त क्षणों को बाँधा है और मोहन राकेश, शानी आदि ने यथार्थ के नये संदर्भों को भाषा के माध्यम से ठोस गहन रूप प्रदान किया है।

नई कहानी में आरोपित कमनीयता अथवा कृत्रिमता का बहिष्कार हुआ है। यह युग बोधगत स्वभाव का ही परिणाम है तथा युग की विडम्बना को सम्प्रेषण देने के लिए भाषा में व्यंग्यात्मक पुट देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त नई कहानी की भाषा में अप-शब्दों का प्रयोग हुआ है, कहीं-कहीं परिस्थिति वश या पात्र की विशेष मनोवृत्ति से प्रभावित होने के कारण शब्दों को तोड़ भरोड़ कर उनके विकृत रूप को भी कहानियों में स्थान दिया गया है। साथ ही भोजपुरी, जौनपुरी, पंजाबी, उर्दू तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्द भी नई कहानी में अन्यास ही प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा कहानीकार ने कहानी को गति देने के लिए किया है और इसी गति में भाषागत ध्वन्यात्मकता आ

जाती है। भाषा, भाव और अभिव्यक्ति की दिशा में नई कहानी की भाषा का मुख्य गुण उसकी सरलता नहीं है बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है।^① नई कहानी की भाषा यात्रा भी इसी अहसास से एक नयी दिशा की यात्रा में तत्पर हुई और उसे इस यात्रा में सफलता भी मिली है। भाषा की छिपी हुई ऊर्जा तलाश करके उसका सर्जनात्मक संयत उपयोग कहानी में हुआ। अतः यह कहना अनुचित न होगा..... "नयी कहानी ने भाषा की जड़ता को तोड़ा। व्यक्तिगत और किताबी भाषा से अपने को पृथक कर, समय के विस्तार में जी रहे मनुष्य की बोली में ही उसने नये अर्थों की तलाश की — प्रदेशों, अंचलों, महानगरों में बिखरी और चारों ओर आवूहवा में समायी हुई भाषा को अन्वेषित कर उसे नये अर्थगर्भित रूप देने और संचेतना से सम्पन्न करने का यह आवश्यक कार्य हिन्दी की नई कहानी ने ही पूर्ण किया है"^②।



①— प्रेम चन्द्र : साहित्य का उद्देश्य — पृ०. २१६

②— कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका: पृ०. २११-२१२

संस्कृत अंक

कहाली - अंक

गारु - अंक

द्विपक्षा क समकालीन लेखन क विवेचन



VITASTA

(2002-2003)

Research Journal

POST-GRADUATE DEPARTMENT OF HINDI

UNIVERSITY OF KASHMIR

(NAAC Accredited Grade "A")
SRINAGAR-KASHMIR-190006